उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणाएँ

खण्ड 01 समाज की मुख्य अवधारणाएँ–1

खण्ड 02 समाज की मुख्य अवधारणाएँ–2

खण्ड 03 सामाजिक प्रक्रियाएं एवं परिवर्तन

समाज विज्ञान विधाशाखा,
समाजशास्त्र
उत्तर प्रदेश राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

MASY-116

समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणाएं

खण्ड 01 समाज की मुख्य अवधारणाएँ–1

इकाई –01 समाजशास्त्र का अर्थ, परिभाषा एवं उद्भव 7–22
इकाई –02 समाजशास्त्र की प्रकृति एवं विषय वस्तु 23–38
इकाई –03 समाज एवं इसके प्रकार 39–52
इकाई –04 समुदाय,संस्था एवं समिति 53–66

खण्ड 02 समाज की मुख्य अवधारणाएँ–2

इकाई –05 सामाजिक संरचना 69–80
इकाई –06 परिस्थिति एव भूमिका 81–94
इकाई –07 सामाजिक समूह एवं उसके प्रकार तथा संदर्भ समूह सिद्धांत 95–112
इकाई –08 सामाजिक नियंत्रण एवं इसके प्रकार 113–132

खण्ड 03 सामाजिक प्रक्रियाएं एवं परिवर्तन

इकाई –09 सहयोग एवं संघर्ष 135–148
इकाई–10 सात्मीकरण एवं प्रसार 149–158
इकाई–11 समाजीकरण एवं इसके प्रकार 159–180
इकाई–12 सामाजिक परिवर्तन एवं इसके प्रकार 181–206
इकाई–13 सामाजिक गतिशीलता 207–228

परामर्श समिति

प्रो0 सीमा सिंह, माननीय कुलपति, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज
कर्नल विनय कुमार, कुलसचिव, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज

पाठ्यक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)

प्रो0 संतोषा कुमार निदेशक, समाज विज्ञान विधाशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज
प्रो0 आशीष सक्सेना विभागाध्यक्ष,समाजशास्त्र विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय,प्रयागराज
प्रो0 महेश शुक्ला टी0 आर0 एस0 कालेज, ए0 पी0 एस0 विश्वविद्यालय,रीवाँ म0 प्र0।
डॉ0 रमेश चन्द्र यादव, असि प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, बैसवारा पी0 जी0 कालेज, लालगंज, रायबरेली।
डॉ0 सुचिता चतुर्वेदी, असि प्रोफेसर, (संविदा) समाजशास्त्र विभाग, समाज विज्ञान विधाशाखा।

इकाई लेखक= डॉ0 शशि पांडे असि.प्रोफेसर,समाजशास्त्र, एस.एस. खन्ना गर्ल्स डिग्री कॉलेज, प्रयागराज, इकाई = 1,2

इकाई लेखक = डॉ0 मनोज कुमार असि. प्रोफेसर, समाजशास्त्र समाज विज्ञान विधाशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज,इकाई = 3,4

इकाई लेखक = डॉ0 अंजु बेनीवाल असि. प्रोफेसर, समाजशास्त्र, राजकीय मीरा गर्ल्स कॉलेज, उदयपुर, राजस्थान इकाई = 5,6,7,8

इकाई लेखक = डॉ0 रामचन्द्र असि. प्रोफेसर, समाजशास्त्र, एस एस बी पी जी कॉलेज, सुदिस्त्पुरी रानीगंज, बलिया इकाई = 9,10,11,12,13

सम्पादक – प्रो0 आलोक कुमार कश्यप, समाजशास्त्र विभाग, महाराजा बलवंत सिंह पी0 जी0 कालेज, गंगापुर, वाराणसी

पाठयक्रम : समन्वयक डॉ0 मनोज कुमार असि प्रोफेसर समाज विज्ञान विधाशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज

2023 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज– 211021

ISBN-978-81-19530-68-7

सर्वाधिक सुरक्षित इस सामग्री के किसी भी अंश को उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुन: प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।
नोट: पाठ्यक्रम सामग्री मे मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आंकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन– उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज

प्रकाशक– कुलसचिव, कर्नल विनय कुमार उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज

मुद्रक: चन्द्रकला यूनिवर्सल प्रा0लि0, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज– 211002

समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणाएँ

Basic concepts of sociology

खण्ड परिचय : समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणाएँ

समाजशास्त्र विषय का दृष्टिकोण अन्य विज्ञानों से अलग है कोई भी विज्ञान चाहे प्राकृतिक हो अथवा सामाजिक उसके अध्ययन का एक विशेष दृष्टिकोण होता है। दृष्टिकोण की यह भिन्नता विज्ञानों को एक दूसरे से अलग करती है इसका तात्पर्य यह है कि एक ही विषय का विभिन्न विज्ञानों में अध्ययन किया जाता है। सोरोकिन (P.A. Sorokin) ने समाजशास्त्र की विषय–वस्तु में अनेक बातों को शामिल किया जो धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि घटनाओं और उनके बीच पाए जाने वाले सहसम्बन्ध। भौगोलिक घटनाओं और सामाजिक जीवन पर उनका प्रभाव। समाज में घटने वाली प्रत्येक घटनाओं की सामान्य विशेषताएँ है।

समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणाएँ मे समाजशास्त्र का अर्थ, परिभाषा एवं उद्देश्य, समाजशास्त्र की प्रकृति एवं विषय वस्तु, समाज, समुदाय, संस्था एवं समिति, सामाजिक संरचना, परिस्थिति एव भूमिका, सामाजिक समूह, संदर्भ समूह सिद्धांत ,सामाजिक नियंत्रण, सामाजिक प्रक्रिया एवं परिवर्तन सहयोग एवं संघर्ष, सात्मीकरण एवं प्रसार, समाजीकरण, सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक गतिशीलता आदि व्यक्ति के प्रत्येक पक्ष का अध्ययन किया जाता है।

टालकाट पारसन्स का मानना था कि किसी भी सामाजिक संरचना को समझने के लिए उस समाज के मूल्यों का तथा उसके संस्थात्मक स्वरूप को समझना आवश्यक है।

इस खण्ड की इकाई 1 मे समाजशास्त्र का अर्थ, परिभाषा एवं उद्देश्य की विवेचना करना है। जैसा की आप जानते हैं समाजशास्त्र समाज का क्रमबद्ध अध्ययन करने वाला विज्ञान है यह एक ऐसा विज्ञान है जिसमें समाज के विभिन्न पहलुओं का संरचनात्मक एवं संगठनात्मक अध्ययन किया जाता है। यह स्पष्ट किया गया है कि समाजशास्त्र दो भाषाओं से मिलकर समाज का वैज्ञानिक अध्ययन किस प्रकार किया है को स्पष्ट करता है तथा इसके जनक अगस्त कॉम्ट हैं यह सामाजिक घटनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करने वाला एक नया विज्ञान है।

इकाई 2 समाजशास्त्र की प्रकृति वैज्ञानिक है जो सामाजिक विषयों एवं समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन करने पर बल देता है। अतः इस इकाई में समाजशास्त्र को विज्ञान होने अथवा न होने पर विभिन्न विद्वानों द्वारा दिये गये विचारों को सम्मिलित किया गया है। समाजशास्त्र एक ऐसा विषय है जो सामाजिक समस्याओं के अध्ययन पर आधारित है एवं यह अन्य समाज विज्ञानों की तुलना में सबसे आधुनिक विषय है।

इकाई 3 किसी समाज के आने वाले व्यक्ति एक दूसरे के प्रति परस्पर स्नेह तथा सहृदयता का भाव रखते हैं। दुनिया के सभी समाज अपनी एक अलग पहचान बनाते हुए अलग–अलग रस्मों–रिवाजों का पालन करते हैं। इस प्रकार का सामूहिक आचरण समाज द्वारा निर्धारित और निर्देशित होता है। वर्तमान सामाजिक मान्यताओं की समान लक्ष्यों से संगति के सबंध में सहमति अनिवार्य होती है।

इकाई 4 समिति के लक्ष्यों की प्राप्ति में प्रत्येक सदस्य का सहयोग करना भी अनिवार्य हो जाता है। अन्यथा,वह किस लिए सदस्य है? ऐसे समिति में शामिल होने का उनका उद्देष्य क्या है? जवाब है, उसके लिए ऐसे समिति का सदस्य होना बेकार है,और ऐसे व्यक्ति को सदस्यता सूची में रखना संघ के लिए भी उतना ही बेकार है।

इकाई 5 इस भाग में हम सामाजिक संरचना के अर्थ के साथ साथ उसके महत्व, विशेषताओं व तत्वों पर प्रकाश डालेंगे सभी इकाइयां परस्पर कार्यात्मक ढंग से संरचना को बनाए रखने मे योगदान देती है अर्थात् किसी भी इकाई का क्रियात्मक योगदान प्रकार्य है।

इकाई 6 सामाजिक संगठन को बनाये रखने के लिए भूमिका एवं प्रस्थिति में संतुलन का होना जरूरी है। व्यक्ति अपने जीवनकाल में अनेक प्रस्थितियों को ग्रहण करता है तथा प्रस्थिति में परिवर्तन भी संभव है। प्रत्येक प्रस्थिति से कुछ सामाजिक नियम, मूल्य और मानदण्ड जुड़े होते है और प्रत्येक व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह इन मानदण्डों का पालन करे अन्यथा उसे आलोचना का शिकार होना पड़ता है। एक व्यक्ति एक समय में अनेक प्रस्थितियां प्राप्त करता है।

इकाई 7 सामाजिक समूह एक प्रकार का संगठन है जिसके सदस्य एक दूसरे को जानते है और वैयक्तिक रूप में एक दूसरे से अपनी एकरूपता स्थापित करते है। समूह व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास में महत्वपूर्ण योगदान देते है। समूह

सभी प्रकार के समाजों में पाये जाते है।

इकाई 8 प्रत्येक समाज यह अपेक्षा करता है कि उसके सदस्य एक निर्धारित तरीके से समाज में आचरण करें जिससे समाज में व्यवस्था बनी रहे। अतः सामाजिक नियंत्रण समाज के अस्तित्व के लिए आवश्यक तत्व है।

इकाई 9 यदि हम इन सभी प्रक्रियाओं को सहयोगी और असहयोगी वर्गों में विभक्त करके स्पष्ट करें, तब सहयोग, समायोजन और सात्मीकरण सहयोगी प्रक्रियाएँ होंगी, जबकि प्रतिस्पर्धा, संघर्ष तथा प्रतिकूलता असहयोगी प्रक्रियाएँ कहलायेंगी ।

इकाई 10 सात्मीकरण अथवा आत्मसात्करण एक सहयोगी सांस्कृतिक प्रक्रिया है। शाब्दिक रूप से 'सात्मीकरण' का अर्थ किसी गुण अथवा विशेषता को अपने में आत्मसात् कर लेना अथवा अपने व्यक्तित्व से मिला लेना होता है।

इकाई 11 सामाजीकरण से हमारा तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह में एक क्रियाशील सदस्य बनता है, समूह की कार्यविधियों से समन्वय स्थापित करता है, उसकी परम्पराओं का ध्यान रखता है और सामाजिक परिस्थितियों से अनुकूलन करके अपने साथियों के प्रति सहनशक्ति की भावना विकसित करता है।

इकाई 12 परिवर्तन शाश्वत प्रकृति को स्वीकार करते हुए, सामाजिक संरचना में निरन्तर परिवर्तन, विकास, अपकर्श, नवीनीकरण की सम्भावना पायी जाती है तथा बिलकुल प्रतिकूल परिस्थितियों में भी समायोजित होने की क्षमता पायी जाती है। इस प्रकार समय के साथ उसमें भारी परिवर्तन सम्भव होता है।

इकाई 13 सामाजिक गतिषीलता की प्रकृति को सर्वप्रथम सोरोकिन ने बहुत विस्तार के साथ अपनी पुस्तक 'सोशल एण्ड कल्चरल मोबिलिटी' में स्पष्ट किया। इसके पश्चात् अनेक विद्वानों ने सामाजिक गतिषीलता के विभिन्न पक्षों की विवेचना में योगदान किया जिनमें रॉबर्ट मर्टन, डी.वी. ग्लास, जे. हॉल तथा जोन्स आदि के नाम प्रमुख हैं।

इकाई-१ समाजशास्त्र का अर्थ, परिभाषा एवं उद्‌भव

इकाई की रुपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना 10

1.2 समाजशास्त्र का अर्थ

1.3 समाजशास्त्र की परिभाषा

1.3.1 समाजशास्त्र समाज का अध्ययन

1.3.2 समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन

1.3.3 समाजशास्त्र सामाजिक समूहों का अध्ययन

1.3.4 समाजशास्त्र सामाजिक जीवन एवं सामाजिक व्यवहारों का अध्ययन

1.3.5 समाजशास्त्र सामाजिक अन्तःक्रियाओं का अध्ययन

1.4 समाजशास्त्र का उद्‌भव

1.4.1 समाजशास्त्र के विकास की प्रथम अवस्था

1.4.2 समाजशास्त्र के विकास की द्वितीय अवस्था

1.4.3 समाजशास्त्र के विकास की तृतीय अवस्था

1.4.4 समाजशास्त्र के विकास की चतुर्थ अवस्था

1.5 भारत में समाजशास्त्र का उद्‌भव एवं विकास

1.6 अभ्यास प्रश्न

1.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

अगस्त कॉम्ट (Auguste Comte) प्रथम विचारक हैं जिन्होंने सर्वप्रथम समाजशास्त्र शब्द प्रतिपादित किया। इन्होंने समाजशास्त्र को एक व्यवस्थित विज्ञान के रूप में प्रस्तुत किया। प्रारम्भ में इन्होंने इसे सामाजिक भौतिकी (Social Physics) के नाम से सम्बोधित किया था। इनका कहना था कि कोई भी विषय ऐसा नहीं है जो समाज के विभिन्न पहलुओं का समग्र रूप से अध्ययन करता हो। अतः 1838 में उन्होंने इस नवीन विषय 'समाजशास्त्र' का निर्माण किया। यही कारण है कि इन्हें समाजशास्त्र का जनक (Father of Sociology) कहा जाता है। समाजशास्त्र विषय का जनक इन्हें मात्र इसलिए नहीं कहा जाता कि इन्होंने इस नवीन विषय को एक नाम दिया, अपितु इसलिए भी कि इन्होंने सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया। इनका कहना था कि समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है। अतः इस इकाई का उद्देश्य समाजशास्त्र का अर्थ, परिभाषा एवं उद्देश्य की विवेचना करना है।

1.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्र समाज का क्रमबद्ध अध्ययन करने वाला विज्ञान है यह एक ऐसा विषय है जिसमें समाज के विभिन्न स्वरूपों, संरचनाओं, प्रक्रियाओं, समूहों, संगठनों, आदि का वस्तुनिष्ठ अध्ययन किया जाता है। कोई विज्ञान चाहे प्राकृतिक हो अथवा सामाजिक उसके अध्ययन का एक विशेष दृष्टिकोण होता है। दृष्टिकोण की यह भिन्नता विज्ञानों को एक– दूसरे से अलग करती है। इसका तात्पर्य यह है कि एक ही विषय का विभिन्न विज्ञानों में अध्ययन किया जा सकता है, लेकिन प्रत्येक विज्ञान में उस विषय के प्रति अपनाया जाने वाला दृष्टिकोण एक–दूसरे से अलग होता है। समाजशास्त्र विषय का दृष्टिकोण अन्य विज्ञानों से अलग है,क्योंकि यह विभिन्न तथ्यों एवं घटनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करता है।

1.2 समाजशास्त्र का अर्थ (Meaning of Sociology)

समाजशास्त्र शब्द अंग्रेजी भाषा के सोशियोलॉजी (Sociology) शब्द का हिन्दी रूपान्तरण है जोकि दो भाषा क्रमशः लैटिन एवं ग्रीक का मिश्रण है। Sociology शब्द सोशियो (Socio) तथा लॉजी (Logy) से मिलकर बना है। प्रथम शब्द सोशियो लैटिन भाषा के शब्द Socius से तथा द्वितीय शब्द लॉजी ग्रीक भाषा

के Logos से बना है जिसका अर्थ क्रमशः समाज तथा विज्ञान है। अतः समाजशास्त्र शब्द का शाब्दिक अर्थ समाज का विज्ञान है। समाज का अर्थ व्यक्तियों के बीच पाये जाने वाले सामाजिक सम्बन्धों से है जबकि विज्ञान का अर्थ किसी भी विषय के व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध अध्ययन से है। Sociology शब्द का निर्माण दो भिन्न भाषाओं से होने के कारण जे.एस. मिल ने इसे अवैध संतान कहा तथा इसकी जगह एक–दूसरे शब्द Ethology का प्रस्ताव रखा जिसके अन्दर मानव समूहों के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जा सके। लेकिन मिल के इस प्रस्ताव की कटु आलोचना की गई। काम्ट वे पहले समाजशास्त्री थे जिन्होंने समाजशास्त्र को सामाजिक व्यवस्था एवं प्रगति का विज्ञान कहा। लेपियर का कथन है कि समाज मनुष्यों के एक समूह का नाम नहीं, बल्कि मनुष्यों के बीच होने वाली अन्तःक्रियाओं एवं इनके प्रतिमानों का अध्ययन है । इस प्रकार समाजशास्त्र के अर्थ को समझने के बाद यह निष्कर्ष दिया जा सकता है कि सामाजिक सम्बन्धों का व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध अध्ययन करने वाला विज्ञान का नाम ही समाजशास्त्र है।

1.3 समाजशास्त्र की परिभाषा (Definition of Sociology)

समाजशास्त्र की परिभाषा विभिन्न विद्वानों ने अलग–अलग दृष्टिकोण से दी है। अतः समाजशास्त्रियों द्वारा दी गई परिभाषाओं को हम निम्नलिखित पाँच प्रमुख श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं।

1.3.1 समाजशास्त्र समाज का अध्ययन (Sociology is the study of Society)

इस वर्ग में वे समाजशास्त्री आते हैं जिनके अनुसार समाजशास्त्र सम्पूर्ण समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है (दुर्खीम, गिडिंग्स, वार्ड, जिसबर्ट ओडम आदि) दुर्खीम के अनुसार, ''समाजशास्त्र सामूहिक प्रतिनिधानों का विज्ञान है। सामूहिक प्रतिनिधान समाज की वह विशेषता है जिसमें सामूहिक चेतना का समावेष होता है। गिडिंग्स (Giddings) के अनुसार,''समाजशास्त्र समग्र रूप से समाज का क्रमबद्ध वर्णन तथा व्याख्या है।''वार्ड (Ward) के अनुसार समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है'। जिसबर्ट (Gisbert) के अनुसार,'' समाजशास्त्र सामान्यतः समाज के विज्ञान के रूप में परिभाषित किया जाता है।''इसी प्रकार ओडम, (Odum) के अनुसार,'' समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो समाज का अध्ययन करता है।''

समाजशास्त्र समाज का अध्ययन है इस रूप में समाजशास्त्र की उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र की विषय वस्तु समाज है। ये समाज को एक समग्र इकाई के रूप में अध्ययन करने पर बल देते है। दुर्खीम तो

समाज को ही वास्तविक देवता कहते हैं। इनका कहना है कि व्यक्ति समाज के आगे कुछ भी नहीं। समाज जैसा चाहता है वैसे ही व्यक्ति क्रिया करता है। इस प्रकार समाजशास्त्र समाज के विभिन्न पहलुओं का क्रमबद्ध अध्ययन करता है।

1.3.2 समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन (Sociology is the Study of Social Relation)

इस विचारधारा को मानने वाले लोगों में प्रमुख रूप से मैकाइवर एवं पेज, क्यूबर, जार्ज सिमेल, ग्रीन का नाम प्रमुख है। इन्होंने समाजशास्त्र में सामाजिक सम्बन्धों को अध्ययन का केन्द्र माना। इसके अनुसार समाज व्यक्तियों का एकत्रीकरण नहीं है, बल्कि यह सामाजिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था है इसलिए समाजशास्त्र को एक ऐसे विज्ञान के रूप में स्पष्ट करना है जो सामाजिक सम्बन्धों का व्यवस्थित रूप से अध्ययन कर सके। उदाहरण स्वरूप, परिवार के अन्तर्गत बहुत तरह के सम्बन्ध पाये जाते हैं जैसे पति–पत्नी का सम्बन्ध, भाई–बहन का सम्बन्ध, पिता और बच्चों का सम्बन्ध माँ एवं बच्चों के बीच सम्बन्ध इत्यादि। यह जरूरी नहीं है कि इनके बीच मधुर तथा सहयोगात्मक सम्बन्ध ही हो, ये संघर्षात्मक या तनावपूर्ण भी हो सकते है। समाजशास्त्री इन दोनों तरह के सम्बन्धों का अध्ययन करते हैं। सामाजिक सम्बन्ध उस परिस्थिति में पाये जाते हैं जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति अथवा समूह अथवा समुदाय परस्पर अन्तःक्रिया में भाग लेते हैं तथा एक–दूसरे से प्रभावित होते हैं. मैकाइवर एवं पेज (Maclver & Page) के अनुसार, ''समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के जाल का अध्ययन करता है।'' सम्बन्ध के इस जाल को हम समाज कहते हैं''। क्यूबर (Cuber) के अनुसार,'' समाजशास्त्र को मानवीय सम्बन्धों के वैज्ञानिक ज्ञान की व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया जा सकता है''। जार्ज सिमेल (Gorge Simmel) के अनुसार,'' समाजशास्त्र मानवीय अन्तर्संबंधों के स्वरूपों का विज्ञान है''। इसी प्रकार ग्रीन (Green) के अनुसार,'' समाजशास्त्र मनुष्य का उसके सम्बन्ध एवं सामाजिक सम्बन्धों के रूप में समन्वय करने वाला एवं सामान्य अनुमान निकालने वाला विज्ञान है''।

इस प्रकार सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन के रूप में समाजशास्त्र को परिभाषित करने वाली उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र की मुख्य विषयवस्तु व्यक्तियों के बीच पाये जाने वाला सामाजिक सम्बन्ध है। इन्हीं सामाजिक सम्बन्दों से समाज का निर्माण होता है।

1.3.3 समाजशास्त्र सामाजिक समूहों का अध्ययन (Sociology is the Study of Social Groups)

समाज में अनेक समूह होते हैं। इन छोटे बड़े समूहों से ही समाज का निर्माण होता है। इन समूहों में रहते हुए व्यक्ति अन्य समूहों से सम्बन्ध स्थापित करता है। समाजशास्त्र इन सामाजिक समूहों का अध्ययन करता है। हेनरी जानसन ने समाजशास्त्र को सामाजिक समूहों के अध्ययन के रूप में परिभाषित किया । जानसन की परिभाषा। से हमें पता चलता है कि समाजशास्त्र सामाजिक समूहों, इनमें पाये जाने वाले संगठनों तथा इनसे अन्तर्सम्बन्धित प्रक्रियाओं का अध्ययन है। जब दो या दो से अधिक व्यक्ति किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक–दूसरे से अन्तःक्रिया करते हैं और तत्पश्चात उनके बीच–सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं, तो व्यक्तियों के इस संग्रह को सामाजिक समूह कहते हैं। समाजशास्त्र इसी सामाजिक समूहों का अध्ययन करता है।

1.3.4 समाजशास्त्र सामाजिक जीवन, एवं सामाजिक व्यवहारों का अध्ययन (Sociology is the Study of Social Life and Social Behaviour)

ऑगबर्न एवं निमकाफ, बेनेट एवं ट्यूमिन, किम्बाल यंग, सोरोकिन आदि विद्वानों ने समाजशास्त्र को सामाजिक जीवन, व्यक्तियों के व्यवहार एक सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के रूप में परिभाषित किया। आगबर्न एवं निमकॉफ (Ogburn and Nimkoff) के अनुसार,'' समाजशास्त्र सामाजिक जीवन का वैज्ञानिक अध्ययन है''। यंग (Young) के अनुसार,'' समाजशास्त्र समूहों में मनुष्यों के व्यवहार का अध्ययन करता है। इसी प्रकार सोरोकिन के अनुसार,'' समाजशास्त्र, सामाजिक सांस्कृतिक घटनाओं के स्वरूपों का अध्ययन करता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र न केवल सामाजिक समूहों तथा उनके बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों का अध्ययन करता है, बल्कि यह व्यक्तियों के व्यवहारों, क्रियाओं, उनके सामाजिक जीवन एवं घटनाओं का अध्ययन करता है।

1.3.5 समाजशास्त्र अन्तःक्रियाओं का अध्ययन (Sociology is the Study of Social Interaction)

व्यक्ति अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए एक–दूसरे पर निर्भर होते हैं। जिसके लिए उनमें आपसी सम्बन्ध निर्मित होते हैं। यह सम्बन्ध सहयोगात्मक अथवा संघर्षात्मक भी हो सकते हैं इनके बीच इसी प्रकार के पाये जाने वाले सम्बन्धों का अध्ययन समाजशास्त्र करता है। मैक्सवेबर के अनुसार समाजशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है जो सामाजिक क्रिया का निर्वचनात्मक अर्थ व्यक्त करने का

प्रयत्न करता है''। गिलिन एवं गिलिन (Gillin and Gillin) के अनुसार,'' समाजशास्त्र विस्तृत अर्थ में व्यक्तियों के एक–दूसरे के सम्पर्क में आने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली अन्तःक्रियाओं का अध्ययन कहा जाता है। गिलिन एवं गिलिन का विचार है कि यदि समाजशास्त्र और समाज को समझने के लिए सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन जरूरी है, तो यह कार्य सामाजिक अन्तःक्रिया (Social Interaction) को समझे बिना नहीं किया जा सकता। अतः सामाजिक अन्तःक्रिया (Social Interaction) समाज का मूल आधार है,''। बीसेन्ज एवं बीसेन्ज (Biesan and Biesan) के अनुसार, ''समाज की जड़ें सामाजिक अन्तःक्रियाओं में है,'' समाज का जन्म ही अन्तःक्रियाओं के माध्यम से होता है, डासन एवं गेटिस (Dawson and Gottys) ने अन्तःक्रियाओं को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि, सामाजिक अन्तःक्रिया वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा मनुष्य एक–दूसरे के मस्तिष्क में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार समाजशास्त्र इन्हीं अन्तःक्रिया का वैज्ञानिक अध्ययन करता है।

1.4 समाजशास्त्र का उद्भव– (Origin of Sociology)

समाजशास्त्र विषय का उद्भव बहुत पुराना नहीं है। इसको लाने का श्रेय फ्रांस के विद्वान अगस्त कॉम्ट (August Comte) को जाता है। वीरस्टीड कहते हैं कि 'समाजशास्त्र का एक लम्बा अतीत रहा है लेकिन इतिहास काफी छोटा है । समाजशास्त्र की विषय वस्तु काफी पुरानी है, किन्तु स्वतंत्र विषय के रूप में वैज्ञानिक चिन्तन कुछ समय पहले ही प्रारम्भ हुआ।

यूरोप एवं विश्व के अनेक देशों में विभिन्न विद्वानों ने समाजशास्त्र को एक पृथक विज्ञान के रूप में विकसित होने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इसके विकास को निम्नलिखित अवस्थाओं में विभाजित किया जा सकता है।

1.4.1 समाजशास्त्र के विकास की प्रथम अवस्था (First Stage of Development of Sociology)

समाजशास्त्र के विकास के प्रथम चरण के अन्तर्गत कुछ प्राचीन विचारकों एवं लेखकों के विचारों को देख सकते हैं । इनमें यूनान के दो प्रमुख विचारकों प्लेटो एवं अरस्तू का नाम महत्वपूर्ण है। प्लेटो (427–347 ई0पू0) की पुस्तक 'द रिपब्लिक' (The Republic) को समाजशास्त्र की अमूल्य कृति माना जाता है इसमें उन्होंने नगरीय समुदाय के विभिन्न पहलुओं का विश्लेषण किया है। यह पुस्तक प्लेटों द्वारा दार्शनिक दृष्टिकोण से लिखी गई है। प्लेटो का कहना है कि 'किसी व्यक्ति का व्यवहार उस समाज की उपज होता है जिसमें वह जन्म लेता है तथा पलता है।' समाज द्वारा दिया गया प्रशिक्षण किसी भी व्यक्ति के

व्यवहार के लिए उत्तरदायी होता है अर्थात् व्यक्ति समाजीकरण की प्रक्रिया में जो कुछ भी सीखता है वही उसके व्यवहार को निर्धारित करता है। प्लेटो कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति में सीखने की क्षमता जन्म से ही अलग–अलग होती है। परिणामस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति के व्यवहार में भी भिन्नता पाई जाती है।

प्लेटो के शिष्य अरस्तू थे उनकी कृति ''इथिक्स'' तथा ''पॉलिटिक्स'' (Ethics and Politics) भी समाजशास्त्र की की उत्कृष्ट कृति है। इस पुस्तक में अरस्तू ने तत्कालीन सामाजिक जीवन के अनेक पहलुओं की चर्चा की। अरस्तु मनुष्य के सामाजिक जीवन को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जो मनुष्य दूसरों के साथ मिलजुल कर नहीं रह सकता वह या तो मनुष्यता के निम्न स्तर पर है या उच्च स्तर पर। देखा जाय तो इन दोनों यूनानी दार्शनिकों ने राज्य से अलग समुदाय की कल्पना नहीं की है। सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन राजनीतिशास्त्र के अन्तर्गत किया है। यह इनका कमजोर पक्ष रहा है। यद्यपि अरस्तु का दृष्टिकोण अधिक वास्तविक रहा है किन्तु उन्होंने भी एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था की ही कल्पना की है। अरस्तु का दर्शन रूढ़िवादी था।

प्लेटो का मानना था कि व्यक्ति का व्यवहार उसका समाज निर्धारित करता है जबकि अरस्तु इसके विपरीत यह विचार प्रस्तुत करते हैं कि व्यक्ति का समाज की प्रकृति को निर्धारित करता है। चूँकि व्यक्ति के व्यवहार को नहीं बदला जा सकता अतः समाज को भी बदलना असम्भव है। अरस्तु परिवार को सामाजिक जीवन की आधारभूत इकाई मानते हैं। तथा राज्य से पहले परिवार का स्थान रखते हैं। अरस्तु के पश्चात् समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की चर्चा लुक्रेटियस, सिसरो, मारकस आरेलियस, सेन्ट अगस्टाइन आदि ने अपनी–अपनी पुस्तकों में की है। रोम के प्रसिद्ध लेखक सिसरो की पुस्तक ''डी ऑफिकस'' यूरोप वासियों के लिए दर्शनशास्त्र, राजनीति, कानून तथा समाजशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान प्रस्तुत करती है। किन्तु इन्होंने समाज के कानूनी पक्ष पर ज्यादा जोर दिया है, गैर कानूनी पक्ष लगभग उपेक्षित रहा है।

1.4.2. समाजशास्त्र के विकास की दूसरी अवस्था (Second Stage of Development of Sociology)

मोटे तौर पर इस चरण को छठी शताब्दी से चौदहवी शताब्दी के काल खण्ड में रखते हैं। समाजशास्त्र के विकास की द्वितीय अवस्था में यह स्वीकार किया जाने लगा कि समाज तथा सामाजिक जीवन स्थिर नहीं है, बल्कि अन्य प्राकृतिक वस्तुओं की तरह इसमें भी परिवर्तन होता रहता है। समाज तथा सामाजिक घटनाओं में होने वाले इस परिवर्तन के पीछे कुछ निश्चित सामाजिक

नियम होते हैं। अतः इस प्रकार इस अवस्था में सामाजिक घटनाओं को समझने के लिए आध्यामिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोण के स्थान पर वैज्ञानिक विधियों से समझने का प्रयास मात्र प्रारम्भ हुआ।

थामस एक्यूनस (Thomas Aquinas) तथा दांते (Dante) की कृतियों में इस प्रकार के अध्ययन दिखाई देते हैं। अब व्यक्ति किसी भी घटना को तार्किक दृष्टिकोण से देखने लगा। भगवान पर विश्वास कम तथा विज्ञान पर विश्वास ज्यादा किया जाने लगा। इस अवस्था में प्राकृतिक घटना तथा दर्शन का क्षेत्र अलग–अलग हो गया साथ ही समाज की विभिन्न घटनाओं या सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों का विशिष्ट तथा अलग से अध्ययन भी प्रारम्भ होने लगा। व्यक्ति का सामाजिक जीवन जो पहले सरल था वह सभ्यता के विकसित होने के साथ ही जटिल होने लगा। सामाजिक घटनाएँ भी जटिल तथा विस्तृत होने लगी। ऐसे में समाज की विभिन्न घटनाओं एवं पक्षों का अलग–अलग एवं विशिष्ट अध्ययन आरम्भ होने लगा। सामाजिक जीवन के अलग–अलग पक्ष जैसे आर्थिक, धार्मिक, राजनीति का अध्ययन अलग–अलग दिया जाने लगा।

इसी समय अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई जिसमें दिन–प्रतिदिन भी घटनाओं का विश्लेषण शुरू हुआ। किन्तु पूर्ण रूप से वैज्ञानिक विधि का प्रयोग अभी भी नहीं हुआ और इस प्रकार मैकियावेली ने अपनी पुस्तक ''दी प्रिंस'' में राज्य को सफलतापूर्वक चलाने के सिद्धान्तों को बताया है ये सिद्धान्त ऐतिहासिक आँकड़ों पर आधारित हैं। सर थॉमस मूर की कृति 'यूटोपिया' (1516) एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था तथा दिन–प्रतिदिन की सामाजिक समस्याओं का वर्णन करती है। विको की पुस्तक 'दि न्यू साइन्स' के अनुसार समाज कुछ निश्चित कानूनों अथवा नियमों के अधीन होता है। इन कानूनों को निरीक्षण द्वारा ही समझा जा सकता है। वाह्य तत्व जैसे जलवायु, व्यक्ति के सामाजिक जीवन को किस प्रकार प्रभावित करती है इसका वर्णन माण्टेस्क्यू ने अपनी पुस्तक 'द स्पिरिट ऑफ लॉज' में किया है। यद्यपि माण्टोस्क्यू के विचार अन्य दार्शनिकों की अपेक्षा अधिक यथार्थ थे किन्तु उन्होंने भी अरस्तु के समान यही रूढ़िवादी निष्कर्ष दिया कि 'जो है', वह अवश्य 'रहना चाहिए'।

इस प्रकार से सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में ये कमियाँ उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक बनी रही।

1.4.3 समाजशास्त्र के विकास की तृतीय अवस्था (Third Stage of Development of Sociology)

एक पृथक विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र का उद्‌भव उन्नीसवीं शताब्दी में

हुआ उस समय यूरोप फ्रांसीसी तथा औद्योगिक क्रान्तियों के फलस्वरूप परिवर्तनों के दौर से गुजर रहा था। फ्रांसीसी तथा औद्योगिक क्रान्ति से पहले यूरोप में चौदहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी के बीच हुई वाणिज्यिक क्रान्ति एवं वैज्ञानिक क्रान्तियों का समय जो ''पुनर्जागरण काल'' कहलाता है, में समाजशास्त्र के उद्‌भव हेतु एक पृष्ठभूमि बनी।

चूँकि औद्योगिक तथा फ्रांसीसी क्रान्ति के परिणामस्वरूप यूरोप में संक्रमण का दौर शुरू हो गया था। पुराने नियम, मूल्य एवं विचारों के स्थान पर नए सामाजिक नियम तथा कानून बनने लगे थे। ऐसे में समाज के बुद्धिजीवी वर्ग द्वारा व्यवस्था की विचारधारा का विकास किया गया। ऑगस्त काम्ट इन दोनों ही विचारधाराओं से प्रभावित थे। काम्ट का मानना था कि समाजशास्त्र सामाजिक घटनाओं का तो वैज्ञानिक अध्ययन करेगा ही साथ ही उन सभी नियमों तथा शक्तियों का भी अध्ययन करेगा जो समाज में परिवर्तन लाते हैं तथा सामाजिक व्यवस्था बनाने में भी योगदान देते हैं। और इस प्रकार यहाँ से समाजशास्त्र के विकास की चौथी अवस्था की झलक दिखने लगी थी।

1.4.4 समाजशास्त्र के विकास के चतुर्थ अवस्था (Fourth Stage of Development of Sociology)

चतुर्थ चरण में ही समाजशास्त्र की पृष्ठभूमि तैयार हुई। टी.बी. बाटोमोर (T.B. Bottomore) ने कहा कि ''समाजशास्त्र का प्राक–इतिहास लगभग सौ साल का निश्चित किया जा सकता है, परन्तु समाजशास्त्र का विकास एक विशिष्ठ विज्ञान के रूप में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध एवं बीसवीं सदी के प्रारम्भिक काल में हुआ। यह आधुनिक समाजशास्त्र का निर्माणकाल माना जाता है। इस चरण में अगस्त काम्ट, स्पेंसर मार्क्स, दुर्खीम आदि अनेक विचारकों का नाम आता है।

सर्वप्रथम समाजशास्त्र का अध्ययन फ्रांसीसी विचारक ऑगस्त काम्ट द्वारा उन्नींसवी शताब्दी में अपनी प्रमुख कृति 'पॉजिटिव फिलॉसफी' में किया गया। इसीलिए ऑगस्त कोंत को समाजशास्त्र का जनक भी कहा जाता है। शुरू में ऑगस्त कोंत गणित के छात्र थे, किन्तु बाद में वे सामाजिक समस्याओं के प्रगति आकर्षित हुए तथा 1817–18 ई0 में फ्रांसीसी विद्वान सेण्ट साइमन के सम्पर्क में आए।

आगस्त काम्ट ने इनके सम्पर्क में आकर इनके विचारों के आधार पर एक नए विज्ञान की नींव रखी। आरम्भ में काम्ट ने इस विज्ञान को 'सोशल

फिजिक्स' नाम दिया किन्तु बेल्जियम के विद्वान क्वेटलेट ने इस शब्द का प्रयोग 1835 ई0 में अपने एक लेख में किया था अतः बाद में काम्ट ने इस नए विज्ञान का नाम 'सोशियोलॉजी' रखा।

जॉन स्टुअर्ट मिल ने 1843 में समाजशास्त्र को इंग्लैण्ड में स्थापित किया तथा हरबर्ट स्पेंसर द्वारा इस क्षेत्र में बहुत कार्य किया गया। हरबर्ट स्पेंसर ने डार्विन के प्रसिद्ध सिद्धान्त ''सरवाइवल ऑफ द फिटेस्ट'' का प्रयोग समाजशास्त्र में किया। स्पेंसर ने कहा कि जीवों के समान ही सामाजिक घटना–वस्तु भी सरल से जटिल तथा समरूप से विषम रूप की ओर धीरे–धीरे विकसित होती है। उनके अनुसार एक साधारण आदिम मानव का विकास वर्तमान के सभ्य मानव के रूप में हुआ है। अपने सामाजिक सिद्धान्त में स्पेंसर ने समाज को मानव शरीर के समान माना है। जहाँ डार्विन ने जैविकीय उद्विकास (Biological Evolution) की बात की वहीं स्पेंसर ने सामाजिक उद्विकास (Social Evolution) की बात की है। इसलिए इन्हें डार्विन का बुलडाग कहा जाता है।

इसके पश्चात् ग्राह्म वैलेस, हॉबहाउस, गिडिंग्स, कूले, मीड आदि ने सामाजिक विकास की व्याख्या मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से करी। इन सभी विचारकों ने स्पष्ट किया कि सामाजिक विकास किस प्रकार से मानव मन के विकास पर निर्भर है। ऑगस्त काम्ट ने समाजशास्त्र को सामाजिक व्यवस्था तथा प्रगति का विज्ञान कहा है। वे समाज को एक व्यवस्था मानते हैं जिसके सभी भाग एक दूसरे पर निर्भर होते हैं तथा एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। इस प्रकार से काम्ट मानते हैं कि सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न भागों के बीच अर्न्तसम्बद्धता तथा अर्न्तनिर्भरता पाई जाने के फलस्वरूप समाज का अध्ययन समग्र रूप में होना चाहिए। जो समाजशास्त्र द्वारा ही किया जा सकता है।

एक विषय के रूप में सर्वप्रथम समाजशास्त्र का अध्ययन येल विश्वविद्यालय (अमेरिका) में सन् 1836 में शुरू हुआ। इसके पश्चात् 1889 में फ्रांस में, 1924 में पोलैंड, 1924 में मिस्र, 1947 में स्वीडन तथा श्रीलंका एवं 1954 में रंगून विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र का अध्ययन शुरू हुआ। देखा जाय तो समाजशास्त्र के विकास में इस समय विश्व के कई देशों ने अपना योगदान दिया है। जहाँ एक ओर जर्मनी में टॉनीज, रैजल, मार्क्स एवं वीरकान्त ने समाजशास्त्र के विकास में अहम भूमिका निभाई है वहीं दूसरी ओर फ्रांस में रूसो, माण्टेन तथा मॉस का भी योगदान कम नहीं है। संयुक्त राज्य अमेरिका के लेस्टर वार्ड, रॉस, मैकाइवर सोरोकिन, पारसन्स आदि विद्वानों द्वारा समाजशास्त्र के विकास में सहयोग किया गया। हरबर्ट स्पेंसर, मिल, जिन्सबर्ग

आदि ने इंग्लैण्ड में समाजशास्त्र को विकसित किया।

सर्वप्रथम समाजशास्त्र का अध्ययन फ्रांसीसी विचारक आगस्त काम्ट द्वारा उन्नीसवी शताब्दी में अपनी कृति 'Positive Phylosophy' में किया। इसलिए इन्हें समाजशास्त्र का जनक भी कहा जाता है । आरम्भ में काम्ट ने इसे सामाजिक भौतिकी (Social Physics) का नाम दिया बाद में उन्होंने इसे समाजशास्त्र (Sociology) शब्द से सम्बोधित किया गया । काम्ट ने सामाजिक विकास की तीन अवस्थाओं का वर्णन किया जो धार्मिक,तात्विक तथा वैज्ञानिक के रूप में वर्णित है। मनुष्य इन्हीं तीन अवस्थाओं के द्वारा आगे बढ़ता है। इन्होंने ही प्रत्यक्षवाद का अपने अध्ययन में प्रयोग किया। इसी प्रकार आगे चलकर स्पेंसर ने डार्विन के प्रसिद्ध सिद्धांत 'Survival of the fittest' के आधार पर समाजशास्त्र में समाज के विकास के 33 चरणों को बताया । इन्हें प्रायः डार्विन का बुलडाग कहा जाता है। इसी प्रकार इसी अवस्था में दुर्खीम ने समाजशास्त्र को अन्य सामाजिक विद्वानों से अलग अध्ययन करने पर बल दिया है वे समाजशास्त्र को सामूहिक प्रतिनिधान के रूप में देखते हैं। सामूहिक प्रतिनिधान वे प्रतीक होते हैं जो सम्पूर्ण समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार समाजशास्त्र के विकास के इस अवस्था में अध्ययन के लिए वैज्ञानिक विधियों का खूब प्रयोग होने लगा ।

1.5 भारत में समाजशास्त्र का उद्‌भव एवं विकास

अभी तक ऊपर की पंक्तियों में हम जान चुके हैं कि विदेशों में समाजशास्त्र का उद्‌भव एवं विकास किस प्रकार हुआ। अब हम जानेंगे कि भारत में किस प्रकार से समाजशास्त्र की स्थापना हुई। भारत में सर्वप्रथम 1917 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रोफेसर बृजेन्द्रनाथ शील द्वारा समाजशास्त्र विषय का अध्ययन प्रारम्भ किया गया। इसके पश्चात् प्रो0 पैट्रिक गिड्डेस द्वारा बम्बई विश्वविद्यालय में इस विषय का अध्ययन किया जाने लगा। यद्यपि अनौपचारिक रूप से भारत में समाजशास्त्रीय अध्ययन कई वर्ष पहले ही आरम्भ हो चुके थे। भारत वर्ष के प्राचीन ग्रन्थों जैसे– वेद, उपनिषद्, स्मृति, रामायण, महाभारत आदि में सामाजिक मूल्यों आदर्शों तथा सामाजिक संस्थाओं का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त कौटिल्य का अर्थशास्त्र, शुक्राचार्य का नीतिशास्त्र आदि भी अपने समय की सामाजिक व्यवस्था, संस्थाओं, परम्पराओं आदि का विवरण प्रस्तुत करती है। इस प्रकार देखा जाए तो भारत वर्ष में विभिन्न कालों में रचित ग्रन्थों का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में व्यवस्थित पुनरावलोकन तथा विश्लेषण करके उस समय की सामाजिक संस्थाओं, प्रथाओं, परम्पराओं आदि के

बारे में बहुमूल्य जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

प्रो0 ब्रजेन्द्रनाथ शील, प्रो0 विनय कुमार सरकार, डॉ0 भगवान दास तथा प्रो0 मोटवानी आदि भारतीय विद्वानों द्वारा प्राचीन ग्रन्थों का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में अध्ययन किया गया है। प्रो0 ब्रजेन्द्रनाथ शील की पुस्तक ''पॉजिटिव साइन्स ऑफ द ऐन्शियन्ट हिन्दूज'' (Positive Science of the Ancient Hindues)। प्रो0 विनय कुमार सरकार की 'द पॉजिटिव बैकग्राउण्ड ऑफ हिन्दू द ऐन्शिन्ट हिन्दूज''। (The Positive background of Hindu : The Ancient Hindues) प्रो0 विनय कुमार सरकार की ''द पॉजिटिव बैकग्राउण्ड ऑफ हिन्दू सोश्योलॉजी (The Positive background of Hindu Sociology), डॉ0 भगवानदास की ''द साइन्स ऑफ सोशल आर्गनाइजेशन'' (The Science of Social organization) तथा प्रो0 केवल मोटवानी की पुस्तक ''इण्डियाज एन्सिएण्ट लिट्रेचर : एन इण्ट्रोडक्ट्री सर्वे (India's Ancient Literature : An Introductory Survey) आदि में भारत की प्राचीन सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक विचारधारा को प्रस्तुत किया गया है।''

औपचारिक रूप से 1917 में प्रो0 ब्रजेन्द्रनाथ शील द्वारा कलकत्ता विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र विभाग के साथ ही समाजशास्त्र विभाग की स्थापना की गई। यद्यपि ये दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक थे तथापि उनके द्वारा समाजशास्त्रीय अध्ययन किए गये एवं ''कम्पेरिटिव स्टडी ऑफ क्रिश्चिन एण्ड वैष्णव ट्रेडिशन'' (Comparitive Study of Christian and Vashnav Tradition) तथा ''ऑरिजिन ऑफ रेसेज'' (Origin of Races) नामक पुस्तकों की रचना की गई। 1920 के लगभग प्रो0 शील के प्रयासों से मैसूर विश्वविद्यालय में बी0ए0 की कक्षाओं में समाजशास्त्र विषय को तीन अन्य विषयों के साथ एक गौण विषय के रूप में पढ़ाया जाने लगा। डॉ0 राधाकमल मुखर्जी, श्री विनय कुमार सरकार, डॉ0 डी0एन0 मजूमदार, प्रो0 निर्मल कुमार बोस आदि प्रो0 ब्रजेन्द्रनाथ शील के ही शिष्य थे। मैसूर विश्वविद्यालय के पश्चात् 1924 में प्रो0 पैंट्रिक गिड्स द्वारा बम्बई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र तथा नागरिकशास्त्र को मिलाकर एक विभाग खोला गया। प्रो0 गिड्स ने नगरीय समाजशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। नगर नियोजन के क्षेत्र में उनके अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। बाद में जी0एस0 धुरिए तथा के0एम0 कापड़िया आदि विद्वान भी इसी विभाग से जुड़े जो वैसे तो मानवशास्त्री थे किन्तु समाजशास्त्र के क्षेत्र में इनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

सन् 1924 में प्रो0 गोविन्द सदाशिव घुरिये बम्बई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र विभाग के अध्यक्ष बने। प्रो0 घुरिए ने भारत में समाजशास्त्र के

विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इनके द्वारा 1952 में ''इण्डियन सोश्योलॉजिकल सोसाइटी'' की स्थापना की गई तथा ''सोश्योलॉजिकल बुलेटिन'' का प्रकाशन एवं सम्पादन किया गया। प्रो0 घुरिए द्वारा ''कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया'' (Caste and Class in India) (1957) नामक पुस्तक की रचना की गई जिसमें उन्होंने भारतीय जाति तथा वर्ग व्यवस्था के सम्बन्ध में अपने सिद्धान्त प्रस्तुत किए। इसके अतिरिक्त इन्होंने भारतीय तथा पाश्चात्य देशों की परिवार संस्था का तुलनात्मक अध्ययन अपनी पुस्तक ''फैमिली एण्ड किन इन इण्डो युरोपियन कल्चर'' (1955) में प्रस्तुत किया है। पुणे विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र की स्थापना मानवशास्त्र के साथ 1938 में हुई जिसकी प्रथम अध्यक्ष इरावती कर्वे थी।

लखनऊ विश्वविद्यालय में भी लगभग इसी समय सन् 1924 में डॉ0 राधाकमल मुखर्जी द्वारा अर्थशास्त्र विभाग के साथ ही समाजशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ किया गया। सन् 1956 में समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र विभाग से अलग होकर समाजसेवा विभाग के साथ जुड़ गया। सन् 1972 तक ये दोनों ही विषय एक ही विभाग के अन्तर्गत कार्यरत रहे किन्तु इसके पश्चात् समाजशास्त्र एक स्वतन्त्र विषय के रूप में लखनऊ विश्वविद्यालय में स्थापित हो गया। डॉ0 राधाकृष्ण मुखर्जी लखनऊ विश्वविद्यालय के जे0के0 इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइन्स के इनके सामाजिक मूल्य सम्बन्धी विचार समाजशास्त्र के क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

राधाकमल मुखर्जी के पश्चात् लखनऊ विश्वविद्यालय के डॉ0 डी0पी0 मुखर्जी जो कि एक अर्थशास्त्री थे, का भी समाजशास्त्र के क्षेत्र में अमूल्य योगदान रहा है। डॉ0 डी0पी0 मुखर्जी ने भारतीय समाज के विश्लेषण में मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य का प्रयोग करते हुए द्वंद्ववाद के आधार पर भारतीय समाज में होने वाले परिवर्तन को समझाने का प्रयास किया।

राधाकमल मुखर्जी डी0पी0 मुखर्जी के अतिरिक्त लखनऊ विश्वविद्यालय के डॉ0 आर0एन0 सक्सेना, डॉ0 टी0एन0 मदान, डॉ0 एस0पी0 नागेन्द्र, डॉ0 ए0के0 सरन, डॉ0 इन्द्रदेव तथा डॉ0 कैलाश नाथ शर्मा ने भी समाजशास्त्र के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इसके साथ ही लखनऊ विश्वविद्यालय में मानवशास्त्र विभाग की भी स्थापना हुई जहाँ प्रसिद्ध मानवशास्त्री डी0एन0 मजूमदार ने अध्यापन कार्य शुरू किया।

सन् 1954 के दौरान भारत के कई विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में समाजशास्त्र का अध्यापन कार्य शुरू होने लगा था तथा समाजशास्त्र एक

लोकप्रिय विषय बनने लगा।

भारत में समाजशास्त्र के क्षेत्र में अनेक विद्वानों का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने समाजशास्त्र के क्षेत्र में उत्कृष्ट कार्य किया है इनमें के0एम0 कपाड़िया, डॉ0 पी0एन0 प्रभु, डॉ0 एम0एन0 श्रीनिवास, डॉ0 ए0आर0 देसाई, डॉ0 डी0एन0 मजूमदार आदि का नाम महत्वपूर्ण है। डॉ0 के0एम0 कपाड़िया ने अपनी दो प्रसिद्ध पुस्तकों 'हिन्दू किनशिप' (Hindu Kinship) (1947) तथा 'मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया' (Marriage and Family in India) (1956) में हिन्दू नातेदारी तथा भारतीय विवाह एवं परिवार के सम्बन्ध में अपने अध्ययन एवं विश्लेषण को प्रस्तुत किया है। डॉ0 पी0एन0 प्रभु ने ''हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन'' (Hindu Social Organization) (1954) में जाति प्रथा तथा आश्रम व्यवस्था आदि विषयों का विश्लेषण प्राचीन हिन्दू ग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत किया। डॉ0 डी0एन0 मजूमदार, रिजले तथा हट्टन द्वारा भारत में जाति–प्रथा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण अध्ययन कार्य किए गए हैं। ''सोसियोलॉजिकल बुलेटिन'' के समान ही एक अन्य शोध पत्रिका ''कॉन्ट्रिब्यूशन टू सोश्योलॉजी'' (Contribution to Sociology) का प्रकाशन डी0एफ0 पोकॉक तथा लुई डयुमा द्वारा आरम्भ किया गया।

भारत में समाजशास्त्र के अन्तर्गत भारतीय सामाजिक संस्थाओं, भारतीय जाति एवं वर्ग व्यवस्था, भारतीय ग्रामीण समुदाय एवं नगरीय समुदाय आदि का विभिन्न विद्वानों द्वारा गहनता से अध्ययन किया गया है। जिसमें डॉ0 घुरिये का नाम प्रमुख है इन्होंने अपनी रचना ''कास्ट, क्लास एण्ड आक्यूपेशन'' है में भारतीय जाति तथा वर्ग व्यवस्था से सम्बन्धित सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं। ग्रामीण समुदायों से सम्बन्धित महत्वपूर्ण अध्ययन डॉ0 दुबे की ''इण्डियाज चेन्जिंग विलेजज'' (India's Changing Vilages) तथा डॉ0 डी0एन0 मजूमदार की पुस्तक ''रूरल प्रोफाइल'' (Rural Profile) तथा एम0एन0 श्रीनिवास (Religion and Society among the Coorgs of South India) की तीन महत्वपूर्ण अवधारणाएँ– संस्कृतिकरण (Sanskritization), पश्चिमीकरण (Westernization) तथा प्रभु जाति, (Dominent Caste) समाजशास्त्र के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

भारत में समाजशास्त्रीय अध्ययन के क्षेत्र में जाति प्रथा का अध्ययन ही सम्भवतः सबसे पहले हुआ था और इस क्षेत्र में लखनऊ विश्वविद्यालय के डॉ0 डी0एन0 मजूमदार की देन वास्तव में उल्लेखनीय है। यद्यपि इस क्षेत्र में पाश्चात्य विद्वान सर्वश्री रिजले तथा हट्टन आदि का नाम भी उल्लेखनीय है। रिजले के अनुसार अनुलोम विवाह के द्वारा प्रजातीय मिश्रण के फलस्वरूप ही

विभिन्न जातियाँ उत्पन्न हुई।

1.6 अभ्यास प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. समाजशास्त्र का अर्थ लिखिए?
2. समाजशास्त्र को परिभाषित कीजिए?
3. समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है स्पष्ट कीजिए।
4. समाजशास्त्र के उत्पत्ति में आगस्त काम्ट की भूमिका का विश्लेषण कीजिए?

1.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. समाजशास्त्र शब्द किसने प्रतिपादित किया।

   अ. दुर्खीम　　ब. सोरोकिन

   स. काम्ट　　द. मैक्सवेबर

2. काम्ट ने सर्वप्रथम समाजशास्त्र को कौन सा नाम दिया गया?

   अ. सोशल फिजिक्स　　ब. सोशल हिस्ट्री

   स. सोशल वर्कर　　द. सोशल बिहैवियर

3. समाजशास्त्र शब्द किन दो भाषाओं का मिश्रण है?

   अ. लैटिन एवं मैथिली　　ब. लैटिन एवं ग्रीक

   स. सिर्फ लैटिन　　द. सिर्फ ग्रीक

4. निम्नलिखित में से किसे डार्विन का बुलडाग कहा जाता है?

   अ. दुर्खीम　　ब. काम्ट

स. स्पेंसर द. मैक्सवेबर

5. किसने कहा समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन है?

अ. मैकाइवर एवं पेज ब. डेविस

स. प्लेटो द. मैक्सवेबर

6. समाजशास्त्र की उत्पत्ति किस वर्ष हुई?

अ. 1830 ब. 1835

स. 1838 द. 1845

1.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

प्र0. 1– स, प्र0. 2– अ, प्र0. 3– ब,

प्र0. 4– स, प्र0. 5– अ, प्र0. 6– स,

इकाई–2 समाजशास्त्र की प्रकृति एवं विषयवस्तु

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 समाजशास्त्र की प्रकृति

2.2.1 विज्ञान का अर्थ

2.2.2 विज्ञान की विशेषताएँ

2.2.3 समाजशास्त्र एक विज्ञान

2.2.4. समाजशास्त्र एक विज्ञान नहीं

2.3 अभ्यास प्रश्न दीर्घ उत्तरीय

2.4 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

2.5 समाजशास्त्र की विषयवस्तु

2.5.1 स्वरूपात्मक सम्प्रदाय

2.5.2 स्वरूपात्मक सम्प्रदाय की आलोचना

2.6 समन्वयात्मक सम्प्रदाय

2.6.1 समन्वयात्मक सम्प्रदाय की आलोचना

2.7 अभ्यास प्रश्न

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का प्रमुख उद्देश्य समाजशास्त्र की प्रकृति एवं विषयवस्तु की पूर्ण जानकारी प्रदान करना है। प्रायः लोगों द्वारा विषयवस्तु एवं विषय क्षेत्र को एक ही समझ लिया जाता है जबकि दोनों में पर्याप्त अन्तर हैं। समाजशास्त्र की प्रकृति वैज्ञानिक है जोकि सामाजिक विषयों एवं समस्याओं का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने पर बल देता है। अतः इस इकाई में समाजशास्त्र के विज्ञान होने अथवा न होने पर विभिन्न विद्वानों द्वारा दिये गये विचारों को सम्मिलित किया गया है।

2.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्र एक ऐसा विषय है जो सामाजिक समस्याओं के अध्ययन पर आधारित है एवं यह अन्य समाज विज्ञानों की तुलना में सबसे आधुनिक विषय है। यह इसलिए आधुनिक है कि यह समाज की विभिन्न समस्याओं का एक विशेष दृष्टिकोण (Pespective) से वैज्ञानिक अध्ययन करता है जो इस विषय के आगमन के पहले किसी भी विषय मे नहीं हो पाया था। समाजशास्त्र शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम फ्रांसीसी दार्शनिक अगस्त काम्ट ने किया था।

2.2 समाजशास्त्र की प्रकृति (Nature of Sociology)

यह प्रश्न एक लम्बे समय से विवाद का विषय रहा है कि समाजशास्त्रीय अध्ययन की प्रकृति वैज्ञानिक है अथवा नहीं। यदि समाजशास्त्र को एक विज्ञान माना जाता है, तो यह देखना है कि इसमें वैज्ञानिक पद्धति की कौन–कौन सी विशेषता पाई जाती है और यदि यह विज्ञान नहीं है तो इसमें कौन सी ऐसी कमी है जिनके आधार पर इसे विज्ञान की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। अतः विद्वानों में इस मुद्दे पर मतभेद है कि इसे विज्ञान माना जाय या नहीं विद्वानों ने अपने विचारों द्वारा इसका स्पष्टीकरण देने का प्रयास किया।

2.2.1 विज्ञान का अर्थ– (Meaning of Science)

वैज्ञानिक पद्धति से प्राप्त किए गए क्रमबद्ध और व्यवस्थित ज्ञान को विज्ञान कहा जाता है। कार्ल पियर्सन के अनुसार, ''सभी विज्ञानों की एक ता उसकी पद्धति में है न कि उसकी विषय वस्तु में।'' मार्टिण्डल के अनुसार, ''विज्ञान का सम्बन्ध वैज्ञानिक पद्धति से है, किसी विशेष विषय–सामग्री से नहीं।'' लुण्डबर्ग के अनुसार ''विज्ञान को विषय सामग्री के रूप में परिभाषित करने का प्रयत्न भ्रम ही उत्पन्न करता है।'' ग्रीन ने विज्ञान को तथ्यों की खोज करने वाला तरीका कहा है।

2.2.2 विज्ञान की विशेषताएँ (Characteristics of Science)

विज्ञान की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

1. विज्ञान में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जाता है। वैज्ञानिक पद्धति एक ऐसा तरीका है जिसमें घटनाओं का अध्ययन उसी रूप में किया जाता है जैसी वे वास्तव में है।
2. विज्ञान 'क्या होना चाहिए' का नहीं बल्कि 'क्या है' का उल्लेख करता है। इसमें कल्पना की बात नहीं की जाती बल्कि वास्तविक तथ्यों के

बारे में ही बात की जाती है।

3. विज्ञान कार्य–कारण सम्बन्धों की व्याख्या करना है। विज्ञान यह जानने की कोशिश करता है कि कोई घटना किस रूप में घटित हुई, उसके पीछे क्या–क्या कारण थे तथा अलग–अलग स्थानों पर इस घटना का क्या प्रभाव पड़ा।

4. वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए अध्ययनकर्ता को तटस्थ अवलोकन करना चाहिए। उसे अपनी भावनाओं, अपने विचारों या पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर ही अवलोकन करना चाहिए। अवलोकन का अर्थ किसी भी घटना या तथ्य को बारीकी से देखना होता है।

5. विज्ञान की विशेषता सत्यापना तथा वर्गीकरण है। अवलोकन विधि से जो भी निष्कर्ष प्राप्त होते हैं उनकी सत्यता की जाँच की जाती है जिसे सत्यापन कहते हैं। जो तथ्य प्राप्त होते हैं उन्हें समान विशेषताओं के आधार पर अलग–अलग रखा जाता है जिसे वर्गीकरण कहते हैं। ये दोनों ही विशेषताएँ किसी भी अध्ययन को वैज्ञानिकता का रूप प्रदान करती है।

6. विज्ञान की अन्य विशेषता सामान्यीकरण है। जो भी तथ्य प्राप्त हुए हैं उनके आधार पर सामान्य नियम प्रस्तुत किया जाता है जिसे सामान्यीकरण कहते हैं।

7. विज्ञान में बनाए गए सिद्धान्तों की परीक्षा तथा पुनर्परीक्षा भी सम्भव है।

8. विज्ञान की एक महत्वपूर्ण विशेषता भविष्यवाणी करने की क्षमता भी है। अध्ययनों के द्वारा जो भी निष्कर्ष हमें मिलते हैं उनके आधार पर भविष्य में होने वाली घटनाओं के बारे में पहले से ही अनुमान लगा लिया जाता है।

2.2.3 समाजशास्त्र एक विज्ञान (Sociology is the Science)

समाजशास्त्र को विज्ञान मानने वाले विद्वान यह मानकर चलते हैं कि इसमें वैज्ञानिक पद्धति की समस्त विशेषताएं पाई जाती है। जो इस प्रकार है।

1. समाजशास्त्र में अध्ययन के लिए वैज्ञानिक पद्धतियाँ प्रयुक्त होती है। समाजशास्त्र को कुछ वैज्ञानिक पद्धतियाँ है सांख्यकीय पद्धति (Statistical Method), समाजमिति (Sociometry), सामाजिक निरीक्षण पद्धति (Social Observation method) वैयक्तिक अध्ययन पद्धति

(Case Study Method) आदि अतः स्पष्ट है कि समाजशास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति का अत्यधिक प्रयोग होता है। इस कारण यह एक विज्ञान है।

2. समाजशास्त्रीय ज्ञान प्रमाण पर आधारित है क्योंकि समाजशास्त्री किसी बात को बलपूर्वक मानने के लिए नहीं अपितु तर्क एवं प्रमाणों के आधार पर व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

3. समाजशास्त्र तथ्यों का यथार्थ रूप से वर्णन ही नहीं करता अपितु इनकी व्याख्या भी करता है इसमें कल्पना का कोई स्थान नहीं होता है।

4. समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति की एक अन्य विशेषता यह है कि इसमें तथ्यों के कार्य–कारण सम्बन्धों की व्याख्या होती है। वास्तव में किसी भी घटना के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य होता है । समाजशास्त्र इन कारणों का वैज्ञानिक अध्ययन करता है।

5. समाजशास्त्र घटनाओं को जिस रूप में है उसी रूप में प्रस्तुत करता है उसमें कुछ जोड़ कर अथवा घटाकर नहीं। इस रूप में इसकी प्रकृति वैज्ञानिक है।

6. विज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि उसके द्वारा प्रतिपादित नियमों का पुर्नपरीक्षण हो सके इस कसौटी पर समाजशास्त्र खरा उतरता है। इसके भी निहतार्थों का पुर्नरीक्षण संभव है।

7. समाजशास्त्र में निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए केवल मात्र निरीक्षण द्वारा तथ्यों के संग्रह मात्र से काम नहीं चलता, बल्कि सही निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए तथ्यों का विश्लेषण एवं वर्गीकरण भी करना पड़ता है. समाजशास्त्र की यह विशेषता उसको विज्ञान की श्रेणी में लाती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र में विज्ञान की सभी विशेषताएं विद्यमान है। वैज्ञानिक पद्धतियां ही समाजशास्त्रीय अध्ययन का आधार है। इन सभी विशेषताओं के आधार पर स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र एक विज्ञान है।

2.2.4. समाजशास्त्र एक विज्ञान नहीं (Sociology is not the Science)

जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि समाजशास्त्र को विज्ञान मानने में कुछ विचारकों ने अपनी आपत्तियाँ दी है। इन विचारकों का मत है कि

विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र की अनेक सीमाएं हैं जो कि इसे गैर–वैज्ञानिक बनाता है। जिसे निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

1. समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के विरुद्ध सर्वप्रथम आपत्ति यह है कि सामाजिक घटनाएं अत्यन्त जटिल होती है जिसके कारण उनका वैज्ञानिक अध्ययन संभव नहीं हो पाता। इस सन्दर्भ में लुण्डबर्ग ने कहा है कि,'' मानव समूह व्यवहार सम्बन्धित एक वास्तविक विज्ञान के लिए सम्भवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण बाधा इसकी अध्ययन वस्तु की जटिलता है। लुण्डबर्ग के उक्त कथन का अर्थ यही है कि सामाजिक सम्बन्ध एवं सामाजिक व्यवहार अत्यन्त जटिल है जिनको वैज्ञानिक विधि द्वारा नही समझा जा सकता। अतः यह विषय गैर– वैज्ञानिक है।

2. समाजशास्त्र को विज्ञान न मानने वालों का दूसरा तर्क यह है कि समाजशास्त्र की अध्ययन वस्तु में वस्तुनिष्ठता का अभाव पाया जाता है जिसका प्रमुख कारण यह है कि समाजशास्त्री जिस समाज का अध्ययन करता है वह स्वयं भी उसका एक अंग होता है। उसमें पूर्व विचार, पक्षपात, राग, द्वेष आदि होते हैं। अतः जब वह तथ्यों का अध्ययन करता तो कहीं न कही उनसे प्रभावित अवश्य होता है परिणाम स्वरूप निष्कर्षों में वस्तुनिष्ठता नहीं आ पाती यही कारण है कि समाजशास्त्र विज्ञान नहीं है।

3. समाजशास्त्र एक विज्ञान इसलिए भी नहीं है,क्योंकि इसमें सार्वभौमिकता के गुण नही होते हैं। एक समाज के अध्ययन से प्राप्त निष्कर्ष दूसरे समाज पर भी लागू हो यह आवश्यक नहीं। अतः समाजशास्त्र एक विज्ञान नहीं है।

4. सामाजिक घटनाएं अमूर्त होती है अतः समाजशास्त्र में सामाजिक घटनाओं को मापा नहीं जा सकता। इसी कारण प्राकृतिक विद्वानों की तरह ही समाजशास्त्र में भी यथार्थता नहीं आ पाती।

5. समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति पर एक आरोप यह लगाया जाता है कि समाजशास्त्र भविष्यवाणी करने की क्षमता नहीं रखता। इसके विपरीत प्राकृतिक एवं भौतिक विज्ञान में यह विशेषता पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति एवं

यथार्थता के विरूद्ध लगाये गये सभी आरोप निराधार के साथ–साथ सापेक्ष भी है। वास्तव में इस प्रकार के प्रश्न करने वाले वैज्ञानिक पद्धति को सही रूप से नहीं पहचानते। कार्ल पियरसन का कथन है कि,'' वह व्यक्ति जो तथ्यों का, चाहे वे किसी प्रकार के क्यों न हों, वर्गीकरण करता है, जो उनके पारस्परिक संबंधों का निरीक्षण और उनके अनुक्रमों का वर्णन करता है वह वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग कर रहा है और एक वैज्ञानिक है। एक समाजशास्त्री में ये सभी गुण विद्यमान होते हैं। इस रूप में यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र एक विज्ञान है।

2.3 बोध प्रश्न– दीर्घ उत्तरीय

1. समाजशास्त्र की प्रकृति की विवेचना कीजिए।

2. समाजशास्त्र एक वैज्ञानिक अध्ययन है, विवेचन कीजिए।

3. विज्ञान क्या है? एक विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र की विवेचना कीजिए।

2.4 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. समाजशास्त्र में वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग होता है?

   अ. हाँ ब. नहीं

   स. कभी–कभी द. बिल्कुल नहीं

2. सामाजिक घटनाएँ होती हैं।

   अ. मूर्त ब. अमूर्त

   स. मात्र मूर्त द. दोनों

3. निम्नलिखित में से कौन समाजशास्त्र की वैज्ञानिक पद्धतियाँ है।

   अ. सांख्यिकीय पद्धति ब. समाज मिति

   स. सामाजिक निरीक्षण द. उपरोक्त सभी

4. वैयक्तिक अध्ययन सम्बन्धित है।

अ. एक व्यक्ति का अध्ययन ब. एक समूह का अध्ययन

स. एक समुदाय का अध्ययन द. उपरोक्त सभी

बोध प्रश्नों के उत्तर–

प्र0. 1– अ, **प्र0. 2– द,**

प्र0. 3– द, **प्र0. 4– द,**

2.5 समाजशास्त्र की विषयवस्तु (Subject Matter of Sociology)

विषयवस्तु का तात्पर्य वे सम्भावित सीमाएं हैं जिसके अन्तर्गत किसी विषय का अध्ययन किया जा सकता है। कुछ लोग विषय क्षेत्र (Scope) तथा विषयवस्तु (Subject matter) को एक ही समझ लेते है। अलेक्स इंकल्स (Alex Inkels) द्वारा लिखी गई पुस्तक What is Sociology? में Scope तथा Subject Matter पर वृहत चर्चा हुई है। समाजशास्त्रियों में यह विषय हमेशा से चर्चा का विषय रहा है कि समाजशास्त्र की विषयवस्तु क्या है । यहाँ हम कुछ विचारकों का संक्षिप्त विवेचन करेंगे । इमाइल दुर्खीम ने समाजशास्त्र की विषयवस्तु को तीन भागों में बाँटा है।

1. सामाजिक स्वरूप शास्त्र (Social Morphology) इस शास्त्र के अन्तर्गत मनुष्यों के जीवन के भौगोलिक आधार और सामाजिक संगठन के प्रकारों का अध्ययन किया जाता है। उदाहरण के रूप में जनसंख्या का घनत्व, संख्या और स्थानीय वितरण का अध्ययन।

2. सामाजिक शरीरशास्त्र (Social Physiology), इन भागों को अनेक उपविभागों में विभाजित किया गया है। जैसे भाषा का समाजशास्त्र (Sociology of language), धर्म का समाजशास्त्र (Sociology of Religion) परिवार का समाजशास्त्र (Sociology of Family कानून का समाजशास्त्र (Sociology of Law) आदि।

3. सामान्य सामाजशास्त्र (General sociology) – दुर्खीम इस भाग को समाजशास्त्र का दार्शनिक अंग मानते हैं । वास्तव में इस भाग के अन्तर्गत

सामाजिक जीवन को निरन्तरता एवं स्थिरता प्रदान करने वाले सामाजिक नियमों का अध्ययन होता है।

गिन्सबर्ग के विचार– गिन्सबर्ग ने समाजशास्त्र की विषयवस्तु को निम्नलिखित चार भागों में बाँटा है–

1. सामाजिक स्वरूपशास्त्र– दुर्खीम की तरह गिन्सबर्ग ने भी सामाजिक स्वरूपशास्त्र के अन्तर्गत सामाजिक संरचना का निर्माण करने वाले विषयों को रखा है। जैसे– जनसंख्या के गुण तथा आकार। इसके साथ ही समाज का निर्माण करने वाले सामाजिक समूह, संस्थाओं तथा समितियों के प्रमुख स्वरूपों का भी इसके अन्तर्गत अध्ययन किया जाता है।

2. सामाजिक नियन्त्रण– इसके अन्तर्गत उन विषयों को सम्मिलित किया गया है जो सामाजिक जीवन में नियंत्रण रखने के लिए आवश्यक होते हैं जैसे– धर्म, कानून, नीति, परम्परा, नैतिकता, विश्वास आदि।

3. सामाजिक प्रक्रियाएँ– समाज के अन्तर्गत लोगों के मध्य तथा विभिन्न समूहों के मध्य पाए जाने वाले सामाजिक सम्बन्धों के विभिन्न स्वरूपों का अध्ययन इसके अन्तर्गत किया जाता है जैसे– सहयोग, प्रतिस्पर्धा, संघर्ष, अनुकूलन, अनुकरण, समायोजन आदि।

सामाजिक व्याधिकी– गिन्सबर्ग के अनुसार समाजशास्त्र के अन्तर्गत उन विषयों का भी अध्ययन किया जाता है जो समाज को असंगठित अथवा विघटित करते हैं। जैसे– अपराध, बाल–अपराध, बेरोजगारी, निर्धनता, आत्महत्या, भ्रष्टाचार आदि।

मैक्स वेबर ने भी समाजशास्त्र की विषयवस्तु का उल्लेख किया है। वेबर (Weber) के अनुसार सामाजिक किया की वैज्ञानिक व्याख्या समाजशास्त्र की मुख्य विषयवस्तु है। सोरोकिन (Sorokin) ने समाजशास्त्र की विषयवस्तु में अनेक बातों को शामिल किया है। इनके अनुसार निम्नलिखित सामाजिक तथ्य समाजशास्त्र की विषयवस्तु है।

1. धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि घटनाओं और उनके बीच पाये जाने वाले सह–सम्बन्ध

2. भौगोलिक घटनाओं और सामाजिक जीवन पर उनका प्रभाव

3. समाज में घटने वाली प्रत्येक घटना की विशेषताएं

अलेक्स इंकल्स ने समाजशास्त्र की विषय–वस्तु की और भी लम्बी सूची

प्रस्तुत की है, वे इस प्रकार है–

(क) समाजशास्त्रीय विश्लेषण

1. मानव संस्कृति एवं समाज
2. समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य (दृष्टिकोण)
3. सामाजिक विज्ञानों में वैज्ञानिक पद्धति

(ख) सामाजिक जीवन की बुनियादी इकाइयाँ

1. सामाजिक क्रिया एवं सामाजिक सम्बन्ध
2. व्यक्तित्व
3. समूह (प्रजाति एवं वर्ग भी सम्मिलित हैं)
4. समुदाय : नगरीय एवं ग्रामीण
5. समितियाँ और संगठन
6. जनसंख्या
7. समाज

(ग) बुनियादी सामाजिक संस्थाएँ

1. परिवार एवं नातेदारी
2. आर्थिक संस्थाएँ
3. राजनीतिक एवं वैधानिक संस्थाएँ
4. धार्मिक संस्थाएँ
5. शैक्षणिक तथा वैज्ञानिक संस्थाएँ

6. मनोरंजनात्मक एवं कल्याण संस्थाएँ

7. कलात्मक एवं अभिव्यक्ति सम्बन्धी संस्थाएँ

(घ) मौलिक सामाजिक प्रक्रियाएँ

1. विभेदीकरण (Differentiation) तथा स्वांगीकरण (Assimilation)

2. सहयोग, समायोजन (Accommodation) तथा स्वांगीकरण (Assimilation)

3. सामाजिक संघर्ष (क्रान्ति एवं युद्ध)

4. संचार (जनमत निर्माण, अभिव्यक्ति और परिवर्तन)

5. समाजीकरण एवं सिद्धान्तीकरण

6. सामाजिक मूल्यांकन (सामाजिक मूल्यों का अध्ययन)

7. सामाजिक विचलन (अपराध, आत्महत्या आदि)

8. सामाजिक नियन्त्रण

9. सामाजिक एकीकरण

10. सामाजिक परिवर्तन

2.5.1 स्वरूपात्मक सम्प्रदाय (Formal School)

इस सम्प्रदाय के प्रमुख समर्थक जार्ज सिमेल, वीरकान्त, वानवीज टानीज तथा मैक्सवेबर है । इस विचारधारा से सम्बन्धित समाजशास्त्रियों की मान्यता है कि अन्य सामाजिक विज्ञानों की तरह समाजशास्त्र भी एक स्वतंत्र विशिष्ट तथा शुद्ध विज्ञान है। इसका प्रमुख लक्ष्य मानवीय सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन करना है अर्थात समाजशास्त्र की विषयवस्तु सामाजिक सम्बन्धों की अन्तर्वस्तु (Contents) नहीं बल्कि सम्बन्धों का स्वरूप (Forms) है। इस सम्प्रदाय से सम्बन्धित विचारकों के विचार को निम्नलिखित रूप से समझा जा सकता है।

जार्ज सिमेल के विचार (Views of Gorge Simmel) –जार्ज सिमेल के अनुसार प्रत्येक वस्तु को दो प्रमुख भागों में विभाजित किया जा सकता है पहला स्वरूप, दूसरा अन्तर्वस्तु (Content) इनके अनुसार स्वरूप एवं अन्तर्वस्तु एक–दूसरे से बिल्कुल पृथक होते हैं तथा दोनों में से किसी का भी पृथक रूप से अध्ययन किया जा सकता है।

वीरकान्त के विचार (Views of Vierkant) – वीरकान्त भी समाजशास्त्र को एक विशिष्ठ विज्ञान मानते हैं। इनके अनुसार,'' समाजशास्त्र उन मानसिक सम्बन्धों का अध्ययन है जो व्यक्तियों को एक–दूसरे से बाँधते हैं'' इसका तात्पर्य यह है कि समाजशास्त्र का सम्बन्ध विभिन्न प्रकार के सम्बन्धों के सम्पूर्ण रूप का अध्ययन करने से न होकर केवल उन्हीं मानसिक सम्बन्धों के अध्ययन करने से है जो विभिन्न व्यक्तियों तथा समूहों को एक–दूसरे से जोड़ते हैं।

वान वीज के विचार (Views of Von Wiese) – इन्होंने समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र को विशिष्ठ बनाने पर बल दिया। इन्होंने सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन करने पर जो देते हुए सामाजिक सम्बन्धों के 650 स्वरूपों का उल्लेख किया तथा समाजशास्त्र के अध्ययन को उन्हीं स्वरूपों के अध्ययन तक सीमित रखा।

टानीज के विचार (Views of Toennies) – टानीज ने समाजशास्त्र को विज्ञान के रूप में स्थापित करने के लिए विशुद्ध समाजशास्त्र (Pure Sociology) की अवधारणा को विकसित किया। इनके अनुसार, समाजशास्त्र विशुद्ध तभी बन सकता है। जब इनके विषय क्षेत्र में सामाजिक विज्ञानों की विषयवस्तु का समावेश न हो तथा इसके वियम एवं पद्धतियाँ अन्य विज्ञानों से पूरी तरह स्वतंत्र हो।

मैक्सवेबर के विचार (Views of Max Weber) – इनके अनुसार समाजशास्त्र का उद्देश्य सामाजिक व्यवहार का विवेचन करना तथा समझना है। इनके अध्ययन का आधार सामाजिक क्रिया है।

2.5.2 स्वरूपात्मक सम्प्रदाय की आलोचना–

अनेक विद्वानों ने स्वरूपात्मक सम्प्रदाय की आलोचना की है जो इस प्रकार है।

1. इस मत से जुड़े विद्वानों का यह कहना उचित नहीं है कि सामाजिक सम्बन्धों के रूपों का अध्ययन किसी अन्य विज्ञान के द्वारा नहीं किया जाता है। सामाजिक सम्बन्धों के बहुत–से रूपों, जैसे– प्रभुत्व, सत्ता,

शक्ति, स्वामित्व, आज्ञा–पालन, दासता, संघर्ष आदि का अध्ययन राजनीतिशास्त्र तथा विधिशास्त्र में काफी व्यवस्थित रूप में किया जाता है।

2. इस मत के समर्थक समाजशास्त्र को अन्य तमाम समाजविज्ञानों से पृथक एक स्वतंत्र और शुद्ध विज्ञान (Pure Science) बनाना चाहते हैं, परन्तु यह पूरी तरह संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि विभिन्न समाजविज्ञानों में पारस्परिक निर्भरता पायी जाती है।

3. इस मत के समर्थकों ने रूप तथा अन्तर्वस्तु (Contents) में भेद किया है और इन्हें एक–दूसरे से अलग माना है। किन्तु सामाजिक सम्बन्धों के रूप तथा अन्तर्वस्तु को एक–दूसरे से अलग करना सम्भव नहीं है।

4. इस विचारधारा के समर्थक समाजशास्त्र को एक नवीन विज्ञान मानते हुए इसके अध्ययन–क्षेत्र को सीमित रखने पर जोर देते हैं। इनके अनुसार समाजशास्त्र का अध्ययन–क्षेत्र सामाजिक सम्बन्धों के कुछ विशिष्ट स्वरूपों तक ही सीमित है। परन्तु इस प्रकार की मान्यता ठीक नहीं है।

5. समाजशास्त्र समाज का विज्ञान माना जाता है। आज यह प्रमाणित हो चुका है कि सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्ष एक–दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं । यदि सामाजिक जीवन के किसी एक भाग या पक्ष में कोई परिवर्तन होता है, तो उसका प्रभाव अन्य भागों या पक्षों पर भी देखने को मिलता है। अतः इस सम्प्रदाय के समर्थकों के अनुसार समाजशास्त्र के अन्तर्गत केवल सामाजिक सम्बन्धों के रूपों के अध्ययन पर जोर देना सामाजिक जीवन के अन्य पक्षों की अवहेलना करने जैसा है।

यहाँ स्पष्ट है कि इस विचारधारा की मान्यताएं बिल्कुल सही नहीं हैं। इसके समर्थक समाजशास्त्र के अध्ययन–क्षेत्र को ठीक से स्पष्ट करने में असमर्थ रहे हैं। सोरोकिन का कहना है कि यदि इस विचारधारा की मान्यताएँ मान ली जातीं, तो समाजशास्त्र एक शास्त्रीय या पंडिताऊ तथा मृत विज्ञान होता, जिसमें मानव सम्बन्धों की एक अनुपयोगी सूची मात्र होती।

2.6 समन्वयात्मक सम्प्रदाय (Synthetic School)

इस सम्प्रदाय के प्रमुख समर्थक दुर्खीम, लेस्टरवार्ड, सोरोकिन, हाबहाउस आदि है। इस सम्प्रदाय के अनुसार समाजशास्त्र विशिष्ट विज्ञान न होकर एक

सामान्य विज्ञान है। समाज का प्रत्येक भाग परस्पर सम्बन्धित है और यदि इसके किसी एक भाग में परिवर्तन होता है तो उसका प्रभाव सारे समाज पर पड़ता है। अतः सम्पूर्ण समाज का अध्ययन आवश्यक है। समन्वयात्मक सम्प्रदाय को अधिक स्पष्ट जानने के लिए इससे सम्बन्धित विद्वानों के विचार निम्नलिखित है।

दुर्खीम, इन्होंने समाजशास्त्र को परिभाषित करते हुए लिखा है कि समाजशास्त्र सामूहिक प्रतिनिधानों का विज्ञान है। इनका मत है कि प्रत्येक समाज के अपने कुछ विचार और भावनाएं होती हैं । जिन्हें स्थाई रूप देने के लिए उस समाज के सदस्य सदैव प्रयत्नशील रहते हैं और स्वयं भी उसमें भाग लेते हैं। धीरे–धीरे सामूहिक चेतना पर आधारित यही विचार अथवा कार्य करने के तरीके समाज के अधिकांश सदस्य अपना लेते हैं। और इनका विकास सामाजिक प्रतीकों के रूप में हो जाता है और ये प्रतीक सामूहिक रूप से सम्पूर्ण समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं। समाजशास्त्र इन्हीं सामूहिक प्रतिनिधित्वो का अध्ययन करता है।

लेस्टरवार्ड (Lester Ward) इनका विचार है कि समाजशास्त्र ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का समन्वय आदि परस्पर एक–दूसरे से सम्बन्धित हैं जिसके कारण एक में प्रभाव डालने पर दूसरा प्रभावित होता है। अतः समाजशास्त्र को विभिन्न विज्ञानों से प्राप्त केन्द्रिय विचारों के समन्वय का अध्ययन करना चाहिए।

सारोकिन (Sorokin) इनका कहना है कि सभी सामाजिक विज्ञान एक–दूसरे पर निर्भर है अतः एक ऐसे सामान्य समाजशास्त्र को विकसित करना आवश्यक है जो विभिन्न सामजिक विज्ञानों द्वारा प्रस्तुत निष्कर्षों में समन्वय स्थापित कर सके तथा सामान्य तथ्यों का अध्ययन करें

हाबहाउस (Hobhouse) – ब्रिटिश समाजशास्त्री हाबहाउस के अनुसार भी समाजशास्त्र का विषयक्षेत्र सामान्य होना चाहिए। इनका कहना है कि समाजशास्त्र का कार्य विभिन्न सामाजिक विद्वानों के सिद्धान्तों से ऐसे सामान्य तत्व ज्ञात करना है जो सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को प्रभावित करते हैं। अतः समाजशास्त्र के अन्तर्गत सभी केन्द्रिय अवधारणाओं के सामान्य स्वरूपों का अध्ययन किया जाय तथा उन कारकों के अध्ययन को महत्व दिया जाय जो सामाजिक स्थिरता एवं परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है।

2.6.1 समन्वयात्मक सम्प्रदाय की आलोचना– समन्वयात्मक सम्प्रदाय की आलोचना निम्नलिखित बिन्दुओं पर की जा सकती है–

1. समाजशास्त्र का कार्य यदि सभी प्रकार की सामाजिक घटनाओं व तथ्यों का अध्ययन करना हो जायेगा तो यह एक विशुद्ध शास्त्र न रहकर मिश्रित शास्त्र रह जायेगा।

2. यदि समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान होगा तो इसका अपना कोई स्वतंत्र क्षेत्र नहीं होगा। ऐसी दशा में इसे अन्य विज्ञान पर आश्रित रहना पड़ेगा।

3. सभी प्रकार की सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के कारण समाजशास्त्र किसी भी विषय का पूर्ण ज्ञान प्रदान नहीं कर सकता परिणाम स्वरूप समाज के लिए यह इतना उपयोगी न रह पायेगा, जितना कि यह विशिष्ट विज्ञान होने के नाते हो सकता है।

उपर्युक्त दोनों विचारधाराएं परस्पर विरोधी विचार प्रकट करते हैं. एक सम्प्रदाय के दृष्टिकोण से समाजशास्त्र विशेष सम्बधों का अध्ययन करने वाला विज्ञान है जबकि दूसरे दृष्टिकोण से समाजशास्त्र सामान्य सम्बन्धों का अध्ययन करने वाला विज्ञान है। वास्तविकता यह है कि किसी भी सामाजिक विज्ञान के लिए यह सीमा निश्चित कर देना कि यह सामान्य या विशिष्ट सम्बन्धों का ही अध्ययन करेगा, अवैज्ञानिक है। सामान्यतः यह दोनों एक–दूसरे के पूरक है जो अध्ययन का केन्द्र है।

2.7 अभ्यास प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. समाजशास्त्र के विषयवस्तु की विवेचना कीजिए
2. दुर्खीम द्वारा दिये गये समाजशास्त्र की विषयवस्तु की विवेचना कीजिए
3. समाज की प्रकृति की विवेचना कीजिए
4. समाजशास्त्र एक विज्ञान है, सिद्ध कीजिए
5. अलेक्स इंकल्स द्वारा समाजशास्त्र की विषयवस्तु की विवेचना कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

1. निम्नालिखित में से कौन फ्रांसीसी विचारक हैं।

अ. धुरिये　　ब. काम्ट

स. बातोमोर द. कार्लमार्क्स

2. समाजशास्त्र की विषय वस्तु–सामाजिक शरीर शास्त्र, सामाजिक स्वरूप शास्त्र एवं सामान्य समाजशास्त्र के रूप में किसने वर्गीकृत किया।

अ. इंकल्स ब. बाटोमोर

स. दुर्खीम द. मैक्सवेबर

3. What is Sociology किसकी कृति है।

अ. दुर्खीम ब. बाटोमोर

स. अलेक्स इंकल्स द. मूर

4. The Suicide नामक रचना के रचयिता हैं।

अ. दुर्खीम ब. वेबा

स. डेविस द. मूर

5. सामाजिक क्रिया को समाजशास्त्र की विषयवस्तु के रूप में किसने दिया।

अ. वार्ड ब. मैक्सवेबर

स. दुर्खीम द. मार्क्स

6. निम्नलिखित में से कौन स्वरूपात्मक सम्प्रदाय से सम्बन्धित नहीं है।

अ. जार्ज सिमेल ब. वीरकान्त

स. वानवीज द. उपरोक्त सभी

7. Pure Sociology कृति है–

अ. किंग्सलेडेविस ब. लेस्टर वार्ड

स. दुर्खीम द. मैक्सवेबर

बोध प्रश्नों के उत्तर–

प्र0. 1– ब, प्र0. 2– स, प्र0. 3– स,

प्र0. 4– अ, प्र0. 5– ब, प्र0. 6– द,

प्र0. 1– ब,

इकाई 3 समाज एवं इसके प्रकार

इकाई की रूपरेखा

3 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 समाज और इसके प्रकार

3.3 समाज का अर्थ

3.4 समाज की विशेषताऐं

3.5 सांस्कृतिक संचरण

3.6 मुख्य रूप से समाज 8 प्रकार के होते हैं

3.6.1 ब्रिटिष विद्वान हरबर्ट स्पेंसर

3.6.2 फ्रांसीसी समाजशास्त्री ईमाल दुर्खीम के अनुसार

3.6.3 एल.एच. मॉर्गन

3.6.4 फ्रांसीसी विद्वान ऑगस्त कॉम्टे

3.6.5 जर्मन समाजशास्त्री टॉनीज

3.6.6 जर्मन विद्वान मार्क्स

3.7 समाज एवं ''एक समाज'' में अंतर

3.8 मानव एवं पशु समाज में अंतर

3.9 निष्कर्ष

3.10 संदर्भ

3. उद्देश्य

भारतीय समाज के विभिन्न आयाम जिसमें समाज के अर्थ, परिभाषा, विशेषता एवं अंतर आदि विषयों पर इस अध्याय में आप जान सकेंगे ।

- भारतीय समाज का परिचय को आप समझ सकेंगे ।
- भारतीय समाज का अर्थ, परिभाषा का वर्णन कर सकेंगे ।

- समाज के विभिन्न प्रकारों को समझ सकेंगे ।
- मानव समाज और पशु समाज के अंतर को आप समझ सकेंगे ।

3.1 प्रस्तावना

व्यक्ति का व्यवहार कुछ निश्चित लक्ष्यों की पूर्ति के प्रयास की अभिव्यक्ति है। उसकी कुछ नैसर्गिक तथा अर्जित आवष्यकताएं होती हैं। जैसे काम, क्षुधा, सुरक्षा आदि। इन अवश्यकताओं की पूर्ति के अभाव में व्यक्ति में कुंठा और मानसिक तनाव से ग्रसित हो जाता है। वह इनकी पूर्ति स्वयं करने में सक्षम नहीं होता है। अतः इन आवष्यकताओं की सम्यक् संतुष्टि के लिए अपने दीर्घ विकास क्रम में मनुष्य ने एक समष्टिगत व्यवस्था को विकसित किया है। इस व्यवस्था को ही हम समाज के नाम से सम्बोधित करते हैं। यह व्यक्तियों का ऐसा संकलन है जिसमें वे निश्चित संबंध और विशिष्ट व्यवहार द्वारा एक दूसरे से बँधे होते हैं। व्यक्तियों की वह संगठित व्यवस्था विभिन्न कार्यो के लिए विभिन्न मानदंडों को विकसित करती है,जिनके कुछ व्यवहार अनुमन्य और कुछ निषिद्ध होते हैं।

3.2 समाज और इसके प्रकार

समाज एक से अधिक लोगों के समुदायों से मिलकर बने एक वृहद् समूह को कहते हैं जिसमें सभी व्यक्ति मानवीय क्रियाकलाप करते हैं। मानवीय क्रियाकलाप में आचरण,सामाजिक सुरक्षा और निर्वाह आदि की क्रियाएं सम्मिलित होती है । समाज लोगों का ऐसा समूह होता है जो अपने अंदर के लोगों के मुकाबले अन्य समूहों से काफी कम मेलजोल रखता है। किसी समाज के आने वाले व्यक्ति एक दूसरे के प्रति परस्पर स्नेह तथा सहृदयता का भाव रखते हैं। दुनिया के सभी समाज अपनी एक अलग पहचान बनाते हुए अलग–अलग रस्मों–रिवाजों का पालन करते हैं।

समाज में विभिन्न कर्ताओं का समावेष होता है,जिनमें अंतःक्रिया होती है। इस अंतःक्रिया का भौतिक और पर्यावरणात्मक आधार होता है। प्रत्येक कर्ता अधिकतम संतुष्टि की ओर उन्मुख होता है। सार्वभौमिक आवष्यकताओं की पूर्ति समाज के अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए अनिवार्य है। तादात्म्यजनित आवष्यकताएं संरचनात्मक तत्वों के सहअस्तित्व के क्षेत्र का नियमन करती हैं। क्रिया के उन्मेष की प्रणाली तथा स्थितिजन्य तत्व,जिनकी और क्रिया उन्मुख है,समाज की संरचना का निर्धारण करते हैं। संयोजक तत्व अंतः क्रिया की प्रक्रिया को संतुलित करते हैं। वियोजक तत्व सामाजिक संतुलन में व्यवधान

उपस्थित करते हैं। वियोजक तत्वों के नियंत्रण हेतु संस्थाकरण द्वारा कर्ताओं के सबंधों तथा क्रियाओं का समायोजन होता है। इससे पारस्परिक सहयोग की वृद्धि होती है औीर अंतर्विरोधों का शमन होता है। सामाजिक प्रणाली मेंक व्यक्ति को कार्य और पद,दंड और पुरस्कार,योग्यता तथा गुणों से सबंधित सामान्य नियमों और स्वीकृत मानदंडों के आधार पर प्रदान किए जाते हैं। इन अवधारणाओं की विसंगति की स्थिति में व्यक्ति समाज की मान्यताओं और विधाओं के अनुसार अपना व्यवस्थापन नहीं कर पाता और उसका सामाजिक व्यवहार विफल हो जाता है। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर उसके लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो पाती है। कारण यह कि उसे समाज के अन्य सदस्यों का सहयोग नहीं प्राप्त होता। सामाजिक दंड के इसी भय से सामान्यतः व्यक्ति समाज में प्रचलित मान्य परंपराओं की उपेक्षा नहीं कर पाता है। वह उनसे समायोजन का हर संभव प्रयास करता है। चूँकि समाज व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों की एक व्यवस्था है इसलिए इसका कोई मूर्त स्वरूप नहीं होता। इसकी अवधारणा अनुभूतिमूलक है। पर इसके सदस्यों में एक दूसरे की सत्ता और अस्तित्व की प्रतीति होती है। ज्ञान और प्रतीति के अभाव में सामाजिक संबंधों का विकास संभव नहीं है। पारस्परिक सहयोग एवं संबंध का आधार समान स्वार्थ होता है। समान स्वार्थ की सिद्धि समान आचरण से ही संभव होती है। इस प्रकार का सामूहिक आचरण समाज द्वारा निर्धारित और निर्देशित होता है। वर्तमान सामाजिक मान्यताओं की समान लक्ष्यों से संगति के सबंध में सहमति अनिवार्य होती है। यह सहमति पारस्परिक विमर्श तथा सामाजिक प्रतीकों के आत्मीकरण पर आधारित होती है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक सदस्य को यह विश्वास रहता है कि वह जिन सामाजिक विधाओं को उचित मानता और उनका पालन करता है,उनका पालन दूसरे भी करते हैं। इस प्रकार की सहमति,विश्वास एवं तदनुरूप आचरण सामाजिक व्यवस्था को स्थिर रखते हैं। व्यक्तियों द्वारा सीमित आवष्यकताओं की पूर्ति हेतु स्थापित विभिन्न संस्थाएं इस प्रकार कार्य करती हैं, जिससे एक समवेत इकाई के रूप में समाज का संगठन अप्रभावित रहता है।

3.3 समाज का अर्थ

समाजशास्त्र में व्यक्तियों के मध्य पाये जाने वाले सामाजिक सम्बन्धों को 'समाज' कहते हैं।समाजशास्त्रियों का यह मानना है,कि मात्र व्यक्तियों के संग्रह या झुंड को समाज नहीं कहा जा सकता,बल्कि व्यक्तियों के मध्य पाए जाने वाले सबंधों व अंतः संबंधों से ही समाज का निर्माण होता है अतः इसे ही

समाज कहते हैं दूसरे शब्दों में ,समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में समाज के निर्माण हेतु सामाजिक संबंधों का होना आवष्यक है जैसा कि विभिन्न समाजशास्त्रियों द्वारा व्यक्त समाज की परिभाषाओं से स्पष्ट होता है।

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार–" समाज कार्य प्रणालियों तथा कृतियों की अधिकार सत्ता और परस्पर संबंधों के अनेक समूहों और श्रेणियों की तथा मानव व्यवहार के नियंत्रण अथवा स्वतंत्रों की एक व्यवस्था है,जो निरंतर परिवर्तनशील है,यह सामाजिक संबंधों का जाल है।''

टालकॉट पारसंस के अनुसार–" समाज को उन मानवीय संबंधों की पूर्ण जटिलता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है,जो साधन और साध्य के संबंध संदर्भ में की गई क्रिया के उपरांत आवष्यकता उत्पन्न हो चाहे वह यथार्थ हो या प्रतीकात्मक।''

गिडिंग्स के अनुसार–" समाज एक स्वयं संघ है,संगठन है,औपचारिक संबंधों का योग है,जिसमें सहयोग देने वाले व्यक्ति एक दूसरे के साथ जुड़े रहते हैं।''

रेडक्लिफ ब्राउन के अनुसार–" समाज को एक जीवित सावयव की भांति स्वीकार किया जा सकता है,जिसमें निरंतर परिवर्तन होते रहते हैं।''

जींसबर्ग के अनुसार–" समाज व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है,जो कुछ संबंधों या व्यवहार के कुछ ढंगो द्वारा संगठित रहता है,जो कि उन्हें अन्य से अलग करते हैं जो इन संबधों में सम्मिलित नहीं है जिनमें समानता होने पर संगठन बना रहता है तथा असमान व्यक्तियेां को अलग समझा जाता है इस प्रकार जींसबर्ग भी समाजिक संबंधों को समाज निर्माण हेतु स्वीकार करते हैं।''

ग्रीन ने समाज की अवधारणा की जो व्याख्या की है उसके अनुसार समाज एक बहुत बड़ा समूह है जिसका कोई भी व्यक्ति हो सकता है। समाज जनसंख्या,संगठन,समय,स्थान और स्वार्थी से बना होता है।

एडम स्मिथ– मनुष्य ने पारस्परिक लाभ के निमित जो कृत्रिम उपाय किया है वह समाज है।

डॉ. जेम्स– मनुष्य के शान्तिपूर्ण सम्बन्धों की अवस्था का नाम समाज है।

मैकाइवर के अनुसार समाज की कुछ मुख्य तत्व निम्नलिखित है –

- रीतियाँ

- अधिकार
- स्वतंत्रता
- कार्यप्रणाली
- पारस्परिक सहयोग
- समूह और उपसमूह

मानव व्यवहार पर नियंत्रण

संक्षेप में यह कहा जा सकता है, समाज एक उद्देष्यपूर्ण समूह होता है, जो किसी एक क्षेत्र में बनता है,उसके सदस्य एकत्व एवं अपनत्व में बंधे होते हैं।

3.4 समाज की विषेषताएं

समाज अमूर्त है– समाज सामाजिक संबंधों की एक व्याख्या है और समाजिक संबंधों की प्रकृति अमूर्त है। सामाजिक संबंधों को ना तो देखा जा सकता है और ना ही छुआ जा सकता है। बल्कि सामाजिक संबंधों का तो मात्र अनुभव ही किया जा सकता है। जब सामाजिक संबंध ही अमूर्त है। तो सामिजक संबंधों के द्वारा निर्मित होने वाली व्यवस्थाएं भी अमूर्त ही होंगी। उदाहरण के लिए जिस प्रकार जीवन एक वस्तु नहीं लेकिन जीवित रहने की क्रिया है,उसी प्रकार समाज एक वस्तु नहीं बल्कि संबंध स्थापित करने की एक प्रक्रिया है, इसे संक्षेप में अमूर्त कहते हैं।

पारस्परिक जागरूकता– किसी भी समाज की एक महत्वपूर्ण विशेषता उसके उद्देष्यों में पारस्परिक जागरूकता होना माना जाता है। क्योंकि जागरूकता के बिना ना तो वह किसी को प्रभावित कर सकेंगे और ना ही किसी से प्रभावित हो सकेंगे। इसी कारण जागरूकता को उस अनिवार्य दशा के रूप में स्वीकार किया जाता है। जिसके द्वारा सामाजिक संबंधों के समाज का निर्माण होता है।

सहयोग एवं संघर्ष– सहयोग एवं संघर्ष एक दूसरे के पारस्परिक विरोधी प्रक्रियाएं हैं लेकिन यह दोनों ही समाज की महत्वपूर्ण विशेषताएं है। ऐसा किसी भी समाज का अस्तित्व आज तक नहीं पाया गया,जिसमें सहयोग अथवा संघर्ष ना पाया जाता हो।

दूसरे पर आश्रित होना– दूसरों पर आश्रित होना समाज की वह महत्वपूर्ण विशेषता है जिसके कारण ही समाज का जन्म होता है। प्रत्येक व्यक्ति की

अनेक सामाजिक आर्थिक वह राजनीतिक आवष्यकताएं होती है,जो वह स्वयं पूरा नहीं कर सकता। इसलिए वह आवष्यकताओं की पूर्ति करता रहता है। उदाहरण के लिए यौन संतुष्टि की पूर्ति हेतु पुरूष और स्त्री परस्पर एक दूसरे पर आश्रित रहते हैं। संक्षेप में कह सकते हैं कि समाज का आधार दूसरों पर आश्रित होना है।

समानता और भिन्नता– भारत का एक महत्वपूर्ण लक्षण यह है किस इसमें समानता और विनीता दोनों ही तत्व पाए जाते हैं। सहयोग तथा संघर्ष के समान ही समानता और बता परस्पर एक–दूसरे से वरोधी प्रवृत्ति के प्रतीत होते हैं लेकिन दोनों का ही समाज में महत्वपूर्ण स्थान होता है।

परिवर्तनषीलता तथा जटिलता–परिवर्तनशील तथा जटिलता समाज का महत्वपूर्ण लक्षण है। परिवर्तन एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। परिवर्तन प्रकृति का सारस्वत व अटल नियम है। मनुष्य,पशु,पेड़ पौधे समाज संस्कृति आदि सब्जी में परिवर्तन का प्रभाव देखा जा सकता हैं क्योंकि अभी तक किसी भी ऐसे समाज को नहीं खोजा सक सका जिस में परिवर्तन न हुआ हो। अतः परिवर्तनशील समाज का एक गुण है। उदाहरण के रूप में यदि हम भारतीय समाज को ही ले तो क्या स्वतंत्रता के पूर्व और वर्तमान में भारतीय समाज में अनेक क्षेत्रों में परिवर्तन हुए हैं। इसी प्रकार जटिलता भी समाज की एक विशेषता है क्योकि समाज सामाजिक संबंधों का जाल है।

संगठन और विघटन– समाज में संगठन और विघटन होनों ही तत्व पाए जाते हैं। संगठन एक संक्षिप्त धारणा है। संगठन के अभाव में ना तो कोई भी समाज उचित रूप से कार्य कर पाता है और ना ही लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। वास्तविकता यह है कि समाज का अस्तित्व संगठन पर ही निर्भर करता है। जब समाज की निर्माण इकाइयां व्यवस्थित रूप से अपने अपने निर्धारित कार्यो को करती रहती है तो संगठन का जन्म होता है। किंतु वास्तविक धरातल पर ऐसा होना कभी भी संभव नहीं होता अतः ऐसी स्थित कभी नहीं आती। विघटन की स्थिति कब और कैसे उत्पन्न होती है इस संदर्भ में इलियट का कथन है कि ''सामाजिक विघटन उस समय उत्पन्न होता है तब शक्तियों के संतुलन में परिवर्तन होता है और सामाजिक संरचना उस प्रकार टूट जाती है कि पहले के प्रतिमान लागू नहीं होते और सामाजिक नियंत्रण के स्वीकृत स्वरूप प्रभावपूर्ण ढंग से कार्य नहीं करते।''

समाज केवल मनुष्य तक ही सीमित नहीं– समाज केवल मनुष्य तक ही सीमित नहीं है बल्कि सभी प्राणियों के समाज होतें चाहे वह पशु पक्षी,

मधुमक्खी,चीटियां,कीड़े मकोड़े या अन्य प्राणी क्यों ना हो? सभी में समाज पाया जाता है। यह एक अलग पक्ष है कि मानव समाज तथा अन्य प्रजातियों के समाज में पर्याप्त भेद होता है । मानव समाज एक सुव्यवस्थित एवं जागरूक समाज का प्रतिनिधित्व करता है। जबकि अन्य प्राणियों के समाजोंमें यह गुण नहीं होते।

मैकाइवर और पेज ने लिखा है '' जहां जीवन है, वही समाज है।'' अतः स्पष्ट है। कि समाज से अपने तक ही सीमित नहीं होते,बल्कि जिन प्राणियों में जीवन होता है, उनमें भी समाज पाए जाते हैं।समाज मानव जीवन में निम्नलिखित कारणों से अत्यधिक महत्व रखता है

मानवीय अंतःक्रिया और संबंध : समाज व्यक्तियों को परस्पर क्रिया करने और एक दूसरे के साथ सबंध बनाने के लिए एक रूपरेखा प्रदान करता है। यह समाजीकरण,साहचर्य और भावनात्मक संबंधों के विकास के अवसर प्रदान करता है। मनुष्य स्वभाव से सामाजिक प्राणी है, और समाज व्यक्तियों को सामाजिक सेंटिंग में फलने–फूलने के लिए आवष्यक वातावरण प्रदान करता है।

3.5 सांस्कृतिक संचरण

समाज ज्ञान, विश्वासों, मूल्यों, रीति–रिवाजों और परंपराओं का भंडार है जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होता है। यह सांस्कृतिक विरासत को सरंक्षित और प्रसारित करने में महत्वूपर्ण भूमिका निभाता है,जिससे व्यक्ति पिछली पीढ़ियों के अनुभवों और ज्ञान से सीख सकते हैं। समाज के माध्यम से,व्यक्ति पहचान, अपनेपन और साझा मूल्यों की भावना प्राप्त करते हैं।

श्रम और विषेषज्ञता का विभाजन– समाज श्रम के विभाजन को सक्षम बनाता है, जहां व्यक्ति विशिष्ट कौशल या व्यवसायों में विशेषज्ञ होते है। इस विशेषज्ञता से उत्पादकता और दक्षता में वृद्धि होती है, क्योंकि लोग उन क्षेत्रों पर ध्यान केंद्रित कर सकते हैं जहां उनकी विशेषज्ञता है। समाज विविध प्रकार के व्यवसायों का निर्माण करता है,जिससे व्यक्ति समुदाय के समग्र कल्याण में योगदान कर सकते हैं और दूसरों के योगदान से लाभान्वित हो सकते हैं।

समाजिक व्यवस्था और स्थिरता– समाज एक संरचना और मानदंडों का समूह प्रदान करता है जो मानव व्यवहार को निर्देशिता करता है। यह कानून, नियम और संस्थाएं स्थापित करता है जो व्यवस्था, निष्पक्षता और न्याय को बढ़ावा देते हैं। सामाजिक मानदंड और मूल्य व्यक्तिगत व्यवहार को आकार देते हैं और एक समुदाय के भीतर स्थिरता बनाए रखने में मदद करते हैं। समाज के बिना

अराजकता होगी,और व्यक्ति एक दूसरे के साथ सद्भावपूर्वक रहने के लिए संघर्ष करेंगे।

आर्थिक परस्पर निर्भरता– समाज अपने सदस्यों के बीच आर्थिक सहयोग और परस्पर निर्भरता को सक्षमा बनाता है। व्यापार, वाणिज्य और वस्तुओं और सेवाओं के आदान–प्रदान के माध्यम से, व्यक्ति अपनी विविध आवष्यकताओं और आकांक्षाओं को पूरा कर सकते हैं। समाज के भीतर आर्थिक प्रणालियां और संस्थाएं उत्पादन, वितरण और उपभोग के लिए मार्ग प्रदान करती है, समग्र आर्थिक विकास में योगदान करती है।

सामाजिक समर्थन और कल्याण– समाज अपने सदस्यों के लिए सहायता प्रणाली प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह सभी व्यक्तियों के कल्याण और जीवन की गुणवत्ता को बढ़ावा दने के लिए स्वास्थ्य सेवा, शिक्षा, सामाजिक सुरक्षा और कल्याणकारी कार्यक्रमों जैसे सामाजिक संस्थानों की स्थापना करता है। समाज के सामूहिक संसाधन और प्रयास सामाजिक चुनौतियों का समाधान कर सकते हैं और जरूरतमंद लोगों को सहायता प्रदान कर सकते हैं।

प्रगति और नवाचार– समाज प्रगति और नवाचार के लिए एक वातावरण को बढ़ावा देता है। सामूहिक शिक्षा, विचारों को साझा करने और सहयोगात्मक प्रयासो के माध्यम से, समाज विज्ञान, प्रौद्योगिकी, कला और शासन सहित विभिन्न क्षेत्रों में उन्नति कर सकते हें। समाज के भीतर ज्ञान और विचारों का आदान–प्रदान सामाजिक विकास को संचालित करता है और समग्र मानवीय स्थिति को बढ़ाता है।

संक्षेप में, समाज सर्वोपरि है क्योंकि यह मानव संपर्क, सांस्कृतिक सरंक्षण, आर्थिक सहयोग, सामाजिक व्यवस्था और प्रगति की सुविधा प्रदान करता है। यह व्यक्तियों को उनके व्यवहार को आकार देने और उनके समग्र कल्याण में योगदान देने के साथ–साथ पहचान,संबंधित और समर्थन की भावना प्रदान करता है। समाज मानव जीवन का एक मूलभूत पहलू है,जो व्यक्तियों को सामूहिक रूप से रहने और फलने–फूलने में सक्षम बनाता है।

विभिन्न प्रकार के समाजों को वर्गीकृत करने के कई तरीके हैं, क्योंकि वर्गीकरण अक्सर सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक और तकनीकि पहलुओं जैसे विभिन्न कारकों पर निर्भर करता है।

3.6 मुख्य रूप से समाज के 8 प्रकार

- **जनजातीय समाज–:** यह प्रारंभिक समाज है। समाज का विस्तार नातेदारी तक सीमित होता है। श्रम विभाजन नहीं पाया जाता है। केवल मानवीय ऊर्जा का प्रयोग करते हैं,पशु एवं प्रौद्योगिकी का उपयोग नहीं कर पाते हैं। जीविकोपार्जन के लिए शिकार एवं खाद्य संग्रह पर निर्भर रहते हैं जादू एवं तंत्र–मंत्र का प्रभाव रहता है। अतिरिक्त उत्पादन समूह के भीतर या समूहों के बीच वस्तु–विनिमय के लिए होता है

- **शिकारी–संग्रहकर्ता समाज–** शिकारी–संग्रहकर्ता समाजों में छोटे,खानाबदोश समूहों की विशेषता होती है जो जीवित रहने के लिए शिकार,मछली पकड़ने और जंगली पौधों को इकट्ठा करने पर निर्भर होते हैं। इनकी कोई स्थायी बस्तियाँ नहीं हैं और आमतौर पर प्रकृति में समतावादी है। शिकारी–संग्रहकर्ता समाजों के उदाहरणों में अफ्रीका में कालाहारी रेगिस्तान की स्वदेशी जनजातियाँ या आर्कटिक के इनुइट समुदाय शामिल है।

- **कृषक समाज–** कृषक समाज कृषि के विकास के साथ उभरे,जहां लोगों ने फसलों की खेती करना और जानवरों को पालतू बनाना शुरू किया। इससे स्थायी बस्तियों की स्थापना और सामाजिक पदानुक्रम का विकास हुआ। माया या मिस्र जैसी प्राचीन सभ्यताएं कृषक समाजों के उदाहरण हैं।

- **सांमती समाज–** मध्ययुगीन यूरोप में सांमती समाज प्रचलित थे और भूमि के स्वामित्व और श्रम पर आधारित एक श्रेणीबद्ध संरचना की विशेषता थी। सामंतवाद में एक ऐसी प्रणाली शामिल थी जहां भूमि का स्वामित्व एक स्वामी या सम्राट के पास था,जिसने सैन्य सेवा या वफादारी के अन्य रूपों के बदले जागीरदारों को इसके कुछ हिस्से दिए। सर्फ, जो पदानुक्रम में सबसे नीचे थे,भूमि पर काम करते थे। समुराई वर्ग के तहत सामंती जापान एक और उदाहरण है।

- **औद्योगिक समाज–** औद्योगिक समाज औद्योगिक क्रांति के आगमन के साथ उभरे,जो उत्पादन प्रक्रियाओं के मशीनीकरण और शहरी केंद्रों के विकास द्वारा चिन्हित हैं। इससे श्रमिक वर्ग के उदय और उद्योगपतियों के हाथों में धन की एकाग्रता सहित महत्वपूर्ण सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन हुए। 18वीं और 19वीं शताब्दी के दौरान यूनाइटेड किंगडम एक औद्योगिक समाज के उदाहरण के रूप

में कार्य करता है ।

- **उत्तर– औद्योगिक समाज–** उत्तर–औद्योगिक समाजों को विनिर्माण और उद्योग से सेवाओं,सूचना और प्रौद्योगिकी पर ध्यान केंद्रित करने के लिए एक बदलाव की विशेषता है। ये समाज अनुसंधान, वित और कंम्यूटर प्रोग्रामिंग जैसे ज्ञान–आधारित व्यवसायों पर बहुत अधिक निर्भर करते हैं। प्रौद्योगिकी और सेवाओं पर जो देने वाले संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देशों को अक्सर उत्तर–प्रौद्योगिक समाजों का उदाहरण माना जाता है।

- **समाजवादी समाज–** सामाजिक समानता प्राप्त करने के उद्देष्य से समाजवादी समाजों को संसाधनों और उत्पादन के साधनों के सामूहिक स्वामित्व की विशेषता है। इन समाजों में अक्सर केंद्रीकृत योजना और वितरण प्रणाली होती है,और राज्य अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। माओवादी युग के दौरान पूर्व सोवियत संघ और चीन समाजवादी समाजों के उदाहरण प्रदान करते हैं।

- **पूंजीवादी समाज–** पूंजीवादी समाज संसाधनों और उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व के सिद्धांतों पर आधारित होते हैं। वे मुक्त बाजार, प्रतिस्पर्धा और व्यक्तिगत आर्थिक स्वतंत्रता पर जोर देते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका, कई पश्चिमी देशों के साथ, अक्सर पूंजीवादी समाज का एक उदाहरण माना जाता है।

ऐतिहासिक या उद्विकास के आधार पर अनेक विद्वानों ने समाज का वर्गीकरण निम्नवत कियाहै–

3.6.1 ब्रिटिष विद्वान हरबर्ट स्पेंसर के अनुसार

1. सरल समाज
2. मिश्रित समाज
3. दोहरे मिश्रित समाज
4. तिहरे मिश्रित समाज

3.6.2 फ्रांसीसी समाजषास्त्री ईमाल दुर्खीम के अनुसार

1. सरल समाज
2. सरल बहुखण्डी या समाज

3. मिश्रित बहुखण्डी या समाज
4. दोहरे मिश्रित बहुखण्डी समाज

3.6.3 **एल.एच. मॉर्गन** ने अपनी पुस्तक एन्सिएन्ट सोसाइटी में संस्कृति के उद्विकास को समाज के माध्यम से दर्षाया है

1. जंगल अवस्था
2. बर्बर अवस्था
3. सभ्य अवस्था

3.6.4 **फ्रांसीसी विद्वान ऑगस्त कॉम्टे** का त्रिस्तरीय सिद्धांत बौद्धिक विकास की अवस्था का प्रतिनिधित्व करता है जिसका परिणाम सामाजिक प्रगति में दिखाई देता है, यह तीन अवस्थाएं निम्न है–

1. **धार्मिक अवस्था** – इस अवस्था में यह माना जाता है कि सभी सामाजिक घटनाएँ दैवीय शक्तियों द्वारा संचालित होती है।
2. **तात्विक या दार्षनिक अवस्था–** इस अवस्था को समाज में ज्ञान का स्रोत अमूर्त होता है।
3. **वैज्ञानिक या प्रत्यक्षवादी अवस्था**– इस अवस्था के समाज में प्राकृतिक एवं सामाजिक घटनाएं वैज्ञानिक नियमों द्वारा निर्धारित होती है।

3.6.5 जर्मन समाजषास्त्री टॉनीज–ने समाजिक बंधन को दो श्रेणियों में विभाजित किया–

1. गेमेनशाफ्ट
2. गेसेलशाफ्ट

गेमेन शाफ्ट एवं गेसेलशाफ्ट जर्मन शब्द,जिसका अर्थ क्रमशः समुदाय एवं समाज होता है।

3.6.6 **जर्मन विद्वान मार्क्स-** ने आर्थिक आधार पर पांच प्रकार के समाजों का उल्लेख किया है।

1. आदिम साम्यवाद
2. एशियाई समाज

3. प्राचीन समाज

4. सामंतवादी समाज

5. पूँजीवादी समाज

मार्क्स ने भविष्य में आने वाले दो समाजों की भी चर्चा की पहला समाजवाद एवं दूसरा साम्यवाद। मार्क्स के अनुसार साम्यवादी समाज आते ही युग परिवर्तन (समाज में परिवर्तन) का चक्र रूक जाएगा। यह समाज की अंतिम अवस्था होगी। विभिन्न विद्वानों ने द्विविभाजन के आधार पर भी समाज का वर्गीकरण किया ब्रिटिष विद्वान हेनरी मेन ने अपनी पुस्तक एन्सिएन्ट लॉ में समाज का द्विविभाजन प्रस्तुत किया–

- प्रस्थिति एवं संविदा
- हावर्ड बेकर पवित्र एवं लौकिक
- मार्गन सोसिटास एवं सिविटास
- स्पेंसर सैन्य समाज एवं औद्योगिक समाज

3.7 समाज एवं "एक समाज" में अंतर

समाज सामाजिक संबंधों से मिलकर बना है एवं यह अमूर्त होता है,जबकि एक समाज व्यक्तियों का समूह है,जो साधारणतः सामान्य जीवन में भागीदार होते हैं,जैसे ब्रह्म समाज। यह मूर्त होता है। इसके अंतर को निम्न बिंदुआरों में देखा जा सकता है –

- समाज सामाजिक संबंधों की एक व्यवस्था है,जबकि एक समाज व्यक्तियों का एक समूह है।
- समाज अमूर्त होता है,जबकि एक समाज मूर्त होता है ।
- समाज का सामान्यतः कोई भौगोलिक क्षेत्र नहीं होता है,जबकि एक समाज का साधारणतः एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है।
- समाज के निर्माण में सहयोग एवं संघर्ष दोनों संबंध होते हैं,जबकि एक समाज के निर्माण में सहयोग को ही प्राथमिक महत्व दिया जाता है।

3.8 मानव एवं पषु समाज में अंतर

मनुष्य के अतिरिक्त अन्य जीवों(पशु–पक्षियों) में भी समाज पाया जाता

है,लेकिन इनमें सामाजिक संबंध अल्प कालीन होते हैं। पशुओं मे समाज तो पाया जाता है लेकिन संस्कृति नहीं पायी जाती है। किंग्सले डेविस ने अपनी पुस्तक ह्यूमन सोसाइटी में कहा है कि यदि कोई एक कारक मनुष्य के अनूठेपन की व्यवस्था कर सकता है, तो वह तत्व यह है कि केवल मनुष्य में ही संस्कृति पायी जाती है,पशुओं में नहीं। डेविस ने पशु समाज को बायो–सोशल सिस्टम एवं मनुष्य समाज को सोसियों कल्चरल सिस्टम कहा है। मानव एवं पशु समाज के अंतर को निम्न बिंदुओं में देखा जा सकता है।

1. मानव समाज में संस्कृति पायी जाती है,पशु समाज में नहीं।
2. मानव समाज में मूल प्रवृत्ति सामान्यतः नहीं पायी जाती है, जबकि पशु समाज में क्रियाकलाप अधिकतर मूल प्रवृत्तियों पर ही आधारित होते हैं।
3. मानव सीखने की अनंत क्षमता के साथ पैदा होता है,जबकि पशु में सीखने की क्षमता बहुत ही कम होती है।
4. मानव बोलकर अपने भावों को भाषा द्वारा प्रकट कर सकता है,जबकि पशु केवल विशेष प्रकार की आवाज ही निकाल सकते हैं
5. चूँकि मानव मस्तिष्क अधिक विकसित होता है। अतः उसमें तर्क–वितर्क करने की क्षमता होती है,जबकि पशुओं के मस्तिष्क कम विकसित होने के कारण तर्क शक्ति का अभाव पाया जाता है।

3.9 निष्कर्ष

उपर्युक्त कई परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि समाज सामाजिक संबंधों की एक जटिल व परिवर्तन व्यवस्था है,परस्परिक निर्भरता,सहयोग एवं संघर्ष, दूसरों पर आश्रित, समानता और विभिन्नता, संगठन व विघटन आदि विशेषताएं पाई जाती है समाज क जटिल और विविध मानवीय रचना है जो हमारे जीवन और अंतःक्रियाओं को आकार देने में मौलिक भूमिका निभाती है। यह उन व्यक्तियों के सामूहिक संगठन को समाहित करता है जो सामान्य विश्वासों, मूल्यों, मानदंडों और संस्थानों को साझा करते हैं। पूरे इतिहास में समाजों का विकास हुआ है और उन्होने अपने समय के सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक गतिषीलता को दर्शाते हुए विभिन्न रूपों को ग्रहण किया है।

यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि समाज स्थिर संस्थाएं नहीं हैं, बल्कि गतिशील हैं और निरंतर परिवर्तन और अनुकूलन के अधीन हैं। वे वैश्वीकरण,

तकनीकी प्रगति और बदलते सांस्कृतिक मूल्यों जैसे कारकों से प्रभावित हैं। इसके अलावा, समाज समरूप नहीं हैं,बल्कि विविध समुदायों को अपनी उपसंस्कृतियों, जातीयताओं और विश्वास प्रणालियों के साथ शामिल करते हैं। समाजिक मुद्दों को संबोधित करने, समावेशिता को बढ़ावा देने और सामंजस्यपूर्ण सह–अस्तित्व को बढ़ावा देने के लिए समाज की जटिलताओं और इसके विभिन्न प्रकारों को समझना महत्वपूर्ण है। समाजों की विविध प्रकृति को पहचान कर हम सभी के लिए एक अधिक न्यायसंगत और टिकाऊ भविष्य बनाने की दिशा में काम कर सकते हैं।

3.10 संदर्भ

- मैकियोनिस जॉन जे.,''सोसाइटी : द बेसिक्स'' ।,पियर्सन प्रकाशन 2021
- पार्सन्स टैल्कॉट,''समाज के सिद्धांतः आधुनिक समाजशास्त्रीय सिद्धांत की नींव'',फ्री प्रेस प्रकाशन,1961
- दुर्खीम एमिल,''समाज में श्रम का विभाजन'',फ्री प्रेस प्रकाशन,1893
- मेयर हेंज–डाइटर और बोली जॉन''आधुनिक समाज : एक तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य'',सेज प्रकाशन, 2012एहरनबर्ग जॉन आर,''सिविल सोसाइटी : द क्रिटिकल हिस्ट्र ऑफ एक आइडिया'',एनवाईयू प्रेस प्रकाशन,1999

इकाई : 4 समुदाय, संस्था एवं समिति

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 समुदाय का अर्थ

4.3 समुदाय की परिभाषा

4.4 समुदाय के अनिवार्य तत्व

4.5 समुदाय की प्रमुख विशेषताएं। समुदाय का महत्व

4.6 समुदाय की बदलती अवधारणा

4.7 समिति की परिभाषा

4.8 समिति की मुख्य विशेषताएं

4.9 समिति के आवष्यक तत्व

4.10 संस्था का अर्थ। परिभाषा

4.11 संस्था के कार्य

4.12 संस्थाओं की विशेषताएं

4.13 संस्थाओं के निम्न प्रकार होते हैं

4.14 समुदाय,समिति और संस्था में अंतर

4.15 संदर्भ

4.0 उद्देश

आप इस अध्याय मे निम्न विषय का अध्ययन कर सकेगे।

1. समुदाय की अवधारणा को आप जानेगे।

2. समुदाय का अर्थ समुदाय की परिभाषा समुदाय के अनिवार्य तत्व को आप जानेगे।

3. समुदाय की प्रमुख विशेषताएं। समुदाय के महत्व को आप समझेगे

4. समिति का अर्थ,समिति किसे कहते हैं को आप जानेगे।

5. समिति की परिभाषा समिति की मुख्य विशेषताएं समिति के आवश्यक तत्व को आप जानेगे।

6. संस्था का अर्थ। संस्था किसे कहते हैं संस्था की परिभाषा संस्था के कार्य संस्थाओं की विशेषताएं को आप जानेगे।

7. संस्थाओं के निम्न प्रकार होते हैं एव समुदाय,समिति और संस्था में अंतर को आप समझेगे।

4.1 प्रस्तावना

समुदाय व्यक्तियों का एक विशिष्ट समूह है,जो कि निश्चित भौगोलिक सीमाओं में निवास करता है। व्यक्ति समुदाय में रहकर ही अपना जीवन व्यतीत करता है। उदाहरण के लिए हम जिस गांव में रहते हैं वह समुदाय ही है। व्यक्तियों के किसी भी संगठन को समुदाय कहा जाता है। परंतु यह ठीक नहीं है।,समाजशास्त्र में समुदाय शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया जाता है। केवल व्यक्तियों का समूह ही समुदाय नहीं है। यह व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जो किसी निश्चित भूभाग पर निवास करता है। समुदाय में सदस्यों का सामान्य जीवन व्यतीत होता है। जब एक समुदाय के कुछ सदस्य किसी विशेष उद्देष्य अथवा उद्देष्यों की पूर्ति के लिए किसी संगठन का निर्माण करते हैं,तब उसे समिति कहते हैं। उदाहरण के लिए, श्रम कल्याण समिति, दुर्गापूजनोत्सव समिति, छात्र समिति आदि।

4.2 समुदाय का अर्थ

समुदाय शब्द अंग्रेजी भाषा के कम्युनिटी Community शब्द का हिन्दी रूपान्तर है,जो कि लैटिन भाषा के 'कॉम' तथा 'म्यूनीस' शब्दों से मिलकर बना है। यहां 'काम' शब्द का अर्थ'एक साथ' है।'म्यूनीस' शब्द का अर्थ 'सेवा करना' है।

अतःसमुदाय का शाब्दिक अर्थ ही एक साथ सेवा करना है। समुदाय व्यक्तियों का वह समूह है जिसमें उनका सामान्य जीवन व्यतीत होता है । इसी आधार पर समुदाय समिति से भिन्न है । समुदाय के निर्माण के लिए व्यक्तियों के समूह के दो बातों का होना अनिवार्य है।

1. निश्चित भू–भाग

2. इसमे रहने वालों के सामुदायिक भावना का होना

4.3 समुदाय की परिभाषा

बोगर्ड्स के अनुसार–" समुदाय एक ऐसा सामाजिक समूह है जहां रहने वाले लोगों में हम की भावना होती है तथा एक निश्चित भूभाग पर निवास करते हैं।''

डेविस के अनुसार–" समुदाय सबसे छोटा समूह है,जिसमें सामाजिक जीवन के सभी पहलू आ जाते हैं।''

ऑगबर्न तथा निमकॉफ के अनुसार–" किसी निश्चित क्षेत्र में रहने वाले सामाजिक जीवन के संपूर्ण संगठन को समुदाय का होता है।''

ग्रीन के अनुसार–" व्यक्तियों का वह समूह जो जीवन की सामान्य ढंग को अपनाते हैं एक स्थानीय क्षेत्र समूदाय है।''

मैंजर के अनुसार–" वह समाज जो एक निश्चित भू–भाग में रहता है,समुदाय कहलाता है।''

अतः समुदाय की विभिन्न परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि समुदाय व्यक्तियों का एक विशिष्ट समूह है जो कि निश्चित भौगोलिक सीमाओं में निवास करता है । इसके सदस्य सामुदायिक भावना द्वारा परस्पर संगठित रहते हैं। समुदाय में व्यक्ति किसी विशिष्ट उद्देष्य की अपेक्षा अपनी सामान्य आवष्यकताओं की पूर्ति हेतु प्रयास करते रहते हैं।

4.4 समुदाय के अनिवार्य तत्व

मैकाइवर एवं पेज ने समुदाय के निम्नलिखित दो आवष्यक तत्व बताए हैं।

1. **स्थाननीय क्षेत्र–"** समुदाय के लिए एक अत्यन्त आवष्यक तत्व निवास स्थान या स्थानीय क्षेत्र (Locality) का होना है। इसकी अनुपस्थिति में समुदाय जन्म नहीं ले सकता। क्षेत्र में निश्चितता होने के कारण ही वहाँ रहने वाले सदस्यों के मध्य घनिष्ठता,सहनषीलता तथा सांमजस्यता की भावना जाग्रत होती है।

2. **सामुदायिक भावना–:** सामुदायिक भावना की अनुपस्थिति में समुदाय की कल्पना ही नहीं की जा सकती। सामुदायिक भावना को 'हम की भावना' भी कहा जाता है। इस भावना का जन्म होने का कारण एक निश्चित क्षेत्र,सदस्यों के कार्य करने का सामान्य ढंग तथा प्रत्येक सदस्य का एक दूसरे के दुःख

उनका स्वयं का दुःख होता है। वे अनुभव करते हैं कि 'हम एक हैं। वस्तुतः यह एक ऐसी भावना है जो समुदाय से दूर चले जाने के बाद भी बनी रहती है।'

4.5 समुदाय की प्रमुख विषेषताएं एवं समुदाय का महत्व

1. **सामुदायिक भावना–** सामुदायिक भावना ही समुदाय की नींव है। समुदाय के सदस्य अपने हितों की पूर्ति के लिए ही नहीं सोचते बल्कि वे सभी समुदाय का ध्यान रखते हैं।

2. **हम की भावना–** समुदाय में रहने वाले लोगों में हम की भावना निहित होती है। हम की भावना दायित्व तथा निर्भरता की भावना समुदाय के सभी सदस्यों को एक सूत्र में बांधने में सहायता कर देती है।

3. **आत्मनिर्भरता–** सामान्य जीवन एवं जीवन की आवष्यकताओं की पूर्ति के लिए समुदाय में आत्मनिर्भरता पाई जाती है। प्राचीन समाज में समुदाय काफी सीमा तक आत्मनिर्भर थे। परंतु आज यह विशेषता प्रायः समाप्त हो गई है।

4. **अनिवार्य सदस्यता–** समुदाय की सदस्यता अनिवार्य होती है। यह व्यक्ति के इच्छाओं पर निर्भर करती है। व्यक्ति जन्म से ही समुदाय का सदस्य बन जाता है,जिसमें उसका जन्म हुआ है। सामान्य जीवन के कारण समुदाय से अलग रह कर व्यक्ति की आवष्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती है।

5. **स्थायित्व –** इसकी अवधि व्यक्ति के जीवन से लंबी होती है। व्यक्ति समुदाय में पैदा होते हैं,तथा चले जाते हैं। लेकिन इसके बावजूद समुदाय का अस्तित्व बना रहता है। इसी कारण यह स्थाई संस्था है।

6. **विषिष्ट नाम–** प्रत्येक समुदाय का कोई न कोई नाम अवश्य होता है। इस नाम के कारण ही समुदाय की एकता का जन्म होता है। समुदाय का नाम ही व्यक्तियों में अपनेपन की भावना को प्रोत्साहित करता है।

7. **सामान्य नियम–** समुदाय की प्रमुख विशेषता यह है कि समुदाय से समस्त सदस्यों के व्यवहार सामान्य नियमों द्वारा नियंत्रित होते हैं। जब सभी व्यक्ति सामान्य नियमों के अंतर्गत कार्य करते हैं,तब उनमें समानता की भावना का विकास होता है। यह भावना समुदाय में पारस्परिक की वृद्धि करती है।

8. **सामान्य जीवन–** प्रत्येक समुदाय में रहने वाले सदस्यों का रहन–सहन,भोजन का ढंग व धर्म सभी काफी सीमा तक सामान्य होते हैं। समुदाय का कोई विशिष्ट लक्ष्य नहीं होता है। समुदाय के सदस्य अपना सामान्य जीवन समुदाय में ही व्यतीत करते हैं।

9. **व्यक्तियों का समूह–** समुदाय निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करने वाले व्यक्तियों का समूह है। समुदाय का निर्माण एक व्यक्ति नहीं करता है लेकिन समुदाय के लिए व्यक्तियों का समूह होना अति आवष्यक है।

4.6 समुदाय की बदलती अवधारणा

औद्योगीकरण, शहरीकरण, संचार के आधुनिक साधनों और सूचना प्रौद्योगिकी के परिणामस्वरूप 'आदर्श समुदाय' का स्थिर,एकजुट और अंतरंग प्राथमिक समूह प्रकार तेजी से गायब हो रहा है। स्थानीय इकाई तेजी से बड़े आर्थिक और राजनीतिक समाज में समाहित हो रही है। व्यक्ति अब पूरी तरह से या यहां तक कि बड़े पैमाने पर प्राथमिक समूह के भीतर नहीं रहते हैं,लेकिन वे बाहर की बड़ी सामाजिक दुनिया के संदर्भ में उन्मुख होते हैं।

व्यक्तिगत हित,इलाके को पार करते हुए, राष्ट्रीय या अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर एकीकृत होते हैं। जैसे–जैसे संपर्क अधिक विविध और व्यापक होते गए हैं,वैसे–वैसे वे अधिक औपचारिक और बाहरी भी होते गए हैं। व्यक्ति भिन्नात्मक होता है,अपने कई या कई समूहों में से प्रत्येक में अपने कुल स्व के केवल एक सीमित पहलू के साथ भाग लेता है,एक ठोस,समग्र व्यक्तित्व के रूप में,उसे किसी एक समूह द्वारा नियंत्रित नहीं किया जाता है,यहां तक कि उसके परिवार द्वारा भी नहीं। उपरोक्त विचारों के आधार पर अंतरंगता ने परिचितता या गुमनामी का रास्ता दिया है,कुछ समाजशास्त्रियों ने ''समुदाय की हानि'' के रूप में अपने विचार प्रस्तुत किया है।

आधुनिकता की ताकतों द्वारा समुदाय की पुरानी विशेषताओं,यानी स्थानीयता और सामुदायिक भावना या 'हम–भावना' को मिटाया जा रहा है। इन ताकतों ने 'सजातीय समुदाय' के मिथक को तोड़ दिया है,'मुस्लिम समुदाय','हिन्दू समुदाय','अश्वेत समुदाय' या 'महिला समुदाय' अब नारीवादियों बनाम रूढ़िवादियों या उदारवादियों बनाम रूढ़िवादियों या विभिन्न अन्य विचारधाराओं (वामपंथी बनाम सख्त) में बंट गए हैं।

4.7 समिति की परिभाषा

मैकाइवर तथा पेज के अनुसार–'' समिति की परिभाषा एक समूह के रूप में कर सकते हैं जो किसी एक हित अथवा अनेक हितों की सामान्य पूर्ति के लिए संगठित हुआ हो।''

मौरिस जीन्सबर्ग के अनुसार–''किसी एक या अनेक निश्चित उद्देष्यों को पूरा

करने के लिए जब कुछ सामाजिक प्राणी एक दूसरे के साथ मिलकर संगठन की रचना करते हैं तब उस संगठन को समिति कहते हैं।''

ऐसे तीन तरीके हैं जिनसे पुरूष अपने अंत या हितों का पीछा कर सकते हैं।

1. स्वतंत्र रूप से,प्रत्येक अपने साथियों और उनके कार्यो के बारे में सोचे बिना अपने तरीके से अनुसरण करता है। लेकिन यह एक असामाजिक तरीका है जहाँ भी एक साथ रहते हैं। इसके अलावा,कुछ हितों को स्वतंत्र रूप से हासिल नहीं किया जा सकता है।

2. वे एक दूसरे के साथ संघर्ष के माध्यम से उनकी तलाश कर सकते है। लेकिन यह समाज के अस्तित्व के ही खिलाफ है।

3. वे कुछ सहकारी आधार पर,कंपनी में अपने अंत का पीछा कर सकते है,ताकि प्रत्येक कुछ हद तक अपने साथियों के सिरों में योगदान दे सके।

यह अंतिम तरीका,सहकारी खोज, स्वतःस्फूर्त हो सकता है,जैसे कि किसी अजनबी या वृद्ध पुरूष/महिला को उनकी कुछ जरूरतों को पूरा करने में मदद करना। यह आकस्मिक हो सकता है या किसी समुदाय के रीति–रिवाज के रूप में, या एक संगठित तरीके से एक संगठन बनाकर हो सकता है। जब व्यक्ति किसी विशिष्ट लक्ष्यों को साकार करने के लिए एक साथ आते हैं,तो कहा जाता है कि उन्होने एक समिति का गठन किया है। संघ हमारे सामान्य हितों के साधन या तरीके के रूप में विकसित होते हैं ।

4.8 समिति की मुख्य विषेषताएं

1. **समिति–:**एक समिति लोगों द्वारा बनाई या बनाई जाती है। यह एक सामाजिक समूह है। लोगों के बिना कोई संघ नहीं हो सकता। यह एक संगठित समूह है। भीड़ या भीड़ जैसा असंगठित समूह एक संघ नहीं हो सकता।

2. **सामान्य हित–:** एक समिति केवल व्यक्तियों का संग्रह नहीं है। इसमें वे व्यक्ति शामिल होते हैं जिनके कमोबेश समान हित होते हैं। तदनुसार जिनके राजनीतिक हित हैं वे राजनीतिक समिति में शामिल हो सकते हैं और जिनके धार्मिक हित हैं वे धार्मिक संघों आदि में शामिल हो सकते हैं।

3. **सहकारी भावना–:** एक समिति अपने सदस्यों की सहकारी भावना पर आधारित होता है। लोग कुछ निश्चित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए मिलकर काम करते हैं। उदाहरण के लिए एक राजनीतिक दल को सत्ता में आने के

अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए सहयोग के आधार पर एक संयुक्त समूह के रूप में मिलकर काम करना पड़ता है।

4. **संगठन–:** समिति किसी प्रकार के संगठन को दर्शाता है। एक समिति अनिवार्य रूप से एक संगठित समूह के रूप में जाना जाता है। संगठन एक समिति को स्थिरता और उचित आकार देता है। संगठन उस तरीके को संदर्भित करता है जिसमें सदस्यों के बीच स्थिति और भूमिकाएं वितरित की जाती है।

5. **संबंधों का विनियमन–:** प्रत्येक समिति के अपने सदस्यों के संबंध को विनियमित करने के अपने तरीके और साधन होते हैं। संगठन विनियमन के इस तत्व पर निर्भर करता है। वे लिखित या अलिखित रूप ग्रहण कर सकते हैं।

6. **एजेंसियों के रूप में समिति–:**समिति ऐसे साधन या एजेंसियां हैं जिनके माध्यम से उनके सदस्य अपने समान या साझा हितों को महसूस करना चाहते हैं। ऐसे सामाजिक संगठन आवष्यक रूप से न केवन नेताओं के माध्यम से बल्कि एजेंसियों के रूप में अधिकारियों या प्रतिनिधियों के माध्यम से कार्य करते हैं। समिति आम तौर पर उन एजेंटों के माध्यम से कार्य करते हैं जो समिति के लिए और उसके लिए जिम्मेदार हैं।

7. **स्वबद्धता का स्थायित्व–:** संबंध स्थायी या अस्थायी हो सकता है। राज्य जैसे कुछ लंबे समय से चले आ रहे संघ हैं,परिवार,धार्मिक संघ आदि । कुछ संघ प्रकृति में अस्थायी हो सकते हैं।

4.9 समिति के आवष्यक तत्व

एक समिति के आवष्यक तत्व इस प्रकार हैं।

1. **यह संगठन का एक ठोस रूप है :** समिति व्यक्तियों का एक समूह है जो किसी विशेष उद्देश्य के साथ एकत्रित होता है। इस प्रकार, यह एक ठोस समूह है जिसे देखा जा सकता है, जबकि काम पर। इस प्रकार, समाज के विपरीत संघ मानव के संगठन का एक ठोस रूप है।

2. समुदाय की तरह, जुड़ाव अनायास नहीं बढ़ता है। इसकी कोई प्राकृतिक वृद्धि नहीं होती है और यह स्वयं नहीं बढ़ती है। वे पुरूषों द्वारा किसी मकसद या कारण को पूरा करने के लिए बनाए गए हैं। एक विशेष प्रकार के संघ को चलाने के लिए नियम और विनियम बनाए जाते हैं और संघ के सदस्य इन नियमों और विनियमों के आधार पर इसे चलाते हैं। वहां,हम पदाधिकारियों और एसोसिएशन के अन्य सदस्यों द्वारा पालन की जाने वाली 'आचार संहिता' पाते

हैं। इसके अलावा,यदि संघ के निर्माता की इच्छा है तो उनके नियमों और विनियमों में भारी बदलाव किए जा सकते है।

3. **इसका उद्देष्य निर्धारित है :** बिना किसी उद्देश्य के कोई समिति नहीं बनता है। सबसे पहले, समस्या है और जिसका समाधान ऐसी समस्याओं को हल करने के लिए गठित समिति का उद्देश्य बन जाता है । उदाहरण के लिए, यदि यह एक नाटकीय संघ है, तो स्वाभाविक रूप से इसका उद्देश्य नाटकों और नाटकों का मंचन करना होगा। कोई भी संघ बिना किसी विशिष्ट उद्देश्य और उद्देश्य के अपनी पहचान बनाए नहीं रख सकता।

4. **नियमों और विनियमों के अनुयायी ही सदस्य है :** हर समिति कुछ नियमों और विनियमों के आधार पर तैरता है। इसमें सदस्यों के लिए आचार संहिता भी शामिल है। जो लोग संघ के नियमों और विनियमों का पालन करते हैं और समिति के उद्देश्य की खोज में भाग लेते हैं, केवल इसके सदस्य कहलाते हैं।

सदस्यों के रूप में दायित्वों के विपरीत कार्य करने या अस्वीकार करने वाले किसी भी व्यक्ति को सदस्यता से निष्कासित किया जा सकता है, उद्देश्य के लिए बनाई गई प्रक्रिया के अनुसार। उदाहरण के लिए,यदि ''राजनीतिक समिति'' का सदस्य विश्वास करना बंद कर देता है या उस संघ की नीतियों की आलोचना करना शुरू कर देता है, जिसका वह अब तक समर्थक रहा है, तो उसका सदस्य बनना बंद हो जाएगा।

समिति के लक्ष्यों की प्राप्ति में प्रत्येक सदस्य का सहयोग करना भी अनिवार्य हो जाता है। अन्यथा,वह किस लिए सदस्य है? ऐसे समिति में शामिल होने का उनका उद्देश्य क्या है? जवाब है, उसके लिए ऐसे समिति का सदस्य होना बेकार है,और ऐसे व्यक्ति को सदस्यता सूची में रखना संघ के लिए भी उतना ही बेकार है।

5. इसकी सदस्यता स्वैच्छिक है : एक समिति राज्य या समाज की तरह तक आवष्यक संगठन नहीं है । न ही यह कोई स्वाभाविक संस्था है जिसमें प्राकृतिक आधार पर सबका योगदान मॉगा जा सके। न ही किसी विशेष संघ का सदस्य बनने के लिए आम और एकीकृत विचारधारा के आधार पर व्यक्तियों के बीच कोई आम प्रवृत्ति है। साथ ही स्वर्ग या राज्य से प्रत्येक नागरिक को समिति बनाने और उसका सदस्य बनने के लिए कोई 'कोड़ा' नहीं दिया जाता है । लेकिन एक समिति की सदस्यता स्वैच्छिक है। एक व्यक्ति सदस्य बन जाता है क्योंकि वह इसे चाहता है और केवल इसलिए कि वह इसे पंसद करता है और यदि वह नापसंद की भावना पैदा करता है तो वह ऐसे किसी भी

संघ को अस्वीकार करने के लिए बिल्कुल स्वतंत्र है। आर्य समाज का सदस्य बनने और आर्य समाज से अपनी सदस्यता को सनातन धर्म समाज में स्थानांतरित करने के लिए स्वंतत्र है।

6. **एक समिति अपने लक्ष्यों और उद्देष्यों के लिए मौजूद है :** एक समिति का जीवन उस उद्देष्य की उपलब्धि तक है जिसके लिए इसे बनाया गया है। लक्ष्य की उपलब्धि के बाद संघ का अस्तित्व सारहीन और अप्रासंगिक हो जाता है। औपचारिकताओं का नाम मात्र और निर्जीव शरीर बन जाता है। ''उद्देष्य समिति की आत्मा है।''

4.10 संस्था का अर्थ एवं परिभाषा

संस्था से तात्पर्य एक ऐसे संगठन से है जिसका मूर्त रूप होता है,उदाहरण के लिए, विद्यालय, न्यायालय, क्लास, बाल अपराध, अस्पताल आदि को लोग संस्था कहते हैं।

ऑगबर्न एवं निमकॉफ के अनुसार–'' मानवीय आवष्यकओं की संतुष्टि के लिए संगठित एवं स्थापित प्रणालियां सामाजिक संस्थाएं है ।''

बोगार्ड्स के शब्दों में–'' एक सामाजिक संस्था समाज की संरचना है जिसका स्थापित कार्य विधियों द्वारा व्यक्तियों की आवष्यकताओं की पूर्ति के लिए संगठित किया जाता है।''

समनर के अनुसार–'' संस्था एक विचारधारा और एक ढांचे से मिलकर बनती है।''

4.11 संस्था के कार्य

1. **मानवीय आवष्यकताओं की पूर्ति एवं कार्य की दिशा–** प्रत्येक संस्था का विकास किसी न किसी मानवीय अवश्यकताओं को लेकर होता है । इसी कारण संस्थाओं को माननीय आवष्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में देखा जाता है। शिक्षण संस्था, विवाह संस्था एवं पारिवारिक नाम संस्था मनुष्यों की कुछ प्रमुख आवष्यकताओं की पूर्ति करती हैं।

2. **व्यक्तियों के कार्य को सरल बनाती है –** संस्था मानव व्यवहार के सभी आचरणों को एक सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करके स्पष्ट करती है कि व्यक्ति को क्या कार्य करना है अथवा उनके कार्यो की दिशा क्या होनी चाहिए। इस प्रकार संस्था कार्य करने की एक निश्चित विधि या प्रणाली का निर्धारण कर

देती है।

3. **व्यवहारों में अनुरूपता–** संस्था से संबंधित एक निश्चित कार्य प्रणाली, कुछ नियम एवं परंपराएं होती हैं। व्यक्ति अपनी आवष्यकताओं की पूर्ति के लिए इन्हीं का सहारा लेता है। जब एक समूह के लोग अपने कुछ विशिष्ट संस्थाओं के नियमों एवं परंपराओं को ध्यान में रखते हुए व्यवहार करते हैं तो उनके व्यवहारों में अनुरूपता या समानता होना स्वाभाविक है ।

4. **सांस्कृति की वाहक –** संस्था संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित करने का महत्वपूर्ण कार्य करती है । संस्थाओं के माध्यम से ही संस्कृति की रक्षा होती है, उसे स्थायित्व प्राप्त होता है। परिवार संस्कृति के स्थानांतरण का एक प्रमुख साधन है।

5. **स्थिति एवं कार्य का निर्धारण –** संस्था व्यक्ति को स्थिति प्रदान करने और उससे संबंधित कार्य का निर्धारण करने का महत्वपूर्ण कार्य करती है। विवाह संस्था के द्वारा एक पुरूष को पति की और स्त्री को पत्नी की प्रतिस्पर्धा प्राप्त होती है,साथ ही इनसे संबंधित कार्य भी निर्धारित होते हैं।

6. **व्यवहारों पर नियंत्रण–** संस्थाएं सामाजिक नियंत्रण का प्रमुख साधन है। प्रत्येक संस्था व्यक्तियों के कार्य की दिशा अथवा व्यवहार का एक तरीका निश्चित कर उन्हें उसी के अनुरूप कार्य करने का आदेश देती है। परिवार और जाति नामक संस्थाएं हजारों वर्षों से अनेक रूपों में अनेक सदस्यों के व्यवहारों को नियंत्रित करती रही है।

4.12 संस्थाओं की विषेषताएं

1. **निश्चित उद्देश्य –** संस्था की मुख्य विशेषता उद्देश्यों का होना है। इन्ही निश्चित उद्देश्य को पूरा करने के लिए संस्था का निर्माण किया जाता है। किंतु जब आवष्यकताओं, लक्ष्य व परिस्थितियों में परिवर्तन हो जाता है तो उद्देश्य में भी परिवर्तन होता है। संक्षेप में हर, स्थिति व परिस्थिति में संस्था के निश्चित उद्देश्य होते हैं।

2. **विचार–** संस्था का प्राथमिक तत्व किसी व्यक्ति के मन या मसितिष्क के उत्पन्न मौलिक विचार हैं। क्योंकि जब मनुष्य किसी आवष्यकता या लक्ष्य को पूरा करने हेतु कार्य करने की सोचना है तो सर्वप्रथम उसके मस्तिष्क में विचार आते हैं। यही विचार कालांतर में संस्था के रूप परिवर्तित हो जाते हैं।

3. **विरासत के रूप में –** संस्था एक विरासत के रूप में होती है। संस्था

एक या दो चार दिनों में नहीं बन जाती बल्कि इसके निर्मित होने में काफी समय लगता है जब कोई विचार, कार्य प्रणाली या तरीका समाज या समुदाय के सदस्यों द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है,अर्थात सामूहिक तौर पर उस विचार को स्वीकृति प्रदान हो जाती है और वहां पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होता हुआ बना रहता है,तभी वह संस्था बन जाता है।

4. **सामूहिक स्वीकृति–** किसी भी प्रकार का विचार चाहे वह जितना भी अच्छा वाला क्यों ना हो, तब वह तक समझ नहीं बन पाता जब तक कि उसे समाज या समुदाय के सदस्यों की स्वीकृति प्राप्त न हो जाए । सामूहिक स्वीकृति प्राप्त होना संस्था के लिए आवष्यक है। क्योंकि बिना सामूहिक स्वीकृति के संस्था नहीं बन सकती।

5. **नियम का ढांचा–** बिना निश्चित ढांचे या संरचना के कोई भी संस्था नहीं होती। ढांचे और संरचना का आशय उस कार्य प्रणालियों या नियमों से है जिन पर चलकर संस्था अपने लक्षण एवं उद्देष्यों को प्राप्त करने का प्रयास करती है। यह नियम चाहे लिखित हो या अलिखित अर्थात् प्रत्येक संस्था में नियमों,और उप नियमों, कार्य प्रणालियों तथा स्वीकृत एवं निषेधात्मक प्रतिमानों मानव में संयुक्त रूप से विद्यमान रहता है। इन्हीं विशेषताओं के कारण संस्था का अस्तित्व बना रहता है ।

6. **अधिकार–**संस्था की एक महत्वपूर्ण विशेषता अधिकार है। किसी अधिकार के द्वारा संस्था अपने सदस्यों के व्यवहारों एवं कार्यो पर नियंत्रण कर पाने में सफल होती है। उदाहरण के लिए विवाह संस्था के माध्यम से अवैध यौन संबंधों पर नियंत्रण करने हेतु सामाजिक अपमान,बहिष्कार,आर्थिक दंड या वैधानिक दंड का भय दिखाया जाता है,इस नियम में अधिकारी के बिना संस्था अपने लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर सकती।

4.13 संस्थाओं के निम्न प्रकार

1. परिवार–: परिवार समाज का आधार है । समाज का निर्माण परिवार से ही होता है। परिवार के बिना मनुष्य व समाज दोनों का अस्तित्व अधूरा है। हम सभी परिवार में रहते हैं। परिवार एक ऐसी संस्था है,जो समस्त देशों में पाई जाती है। परिवार एक सार्वभौमिक संस्था है जो विवाहित स्त्री पुरूष और बच्चों से बनी होती है। इस संस्था पर ही समाज का अस्तित्व निर्भर करता है। परिवार पति–पत्नी तथा उनके बच्चों की एक जैविक सामाजिक इकाई है । परिवार समाज की प्रमुख संस्था है। यह संस्था समाज के द्वारा मान्यता प्राप्त

एक ऐसा संगठन है जिससे निश्चित मानवीय आवष्यकताओं की पूर्ति होती है।

2.षिक्षण संस्थाएँ–: इस तरह की संस्थाएं हमें समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनाती है। और यही समाजीकरण है। शिक्षण संस्थाओं में समाजीकरण के प्रमुख तीन स्रोतों को माना गया है – गुरूजन,सहपाठी,पुस्तकें। इन्हीं तीनों के मिलने से स्कूली शिक्षा का संपूर्ण वातावरण निर्मित होता है,जिसके सकारात्मक प्रभाव से व्यक्ति का उचित विकास होता है। ऐसी संस्थाएं व्यक्ति को सदैव नवीन ज्ञान ग्रहण कराता है,उसकी मानसिक क्षमता का पूरा विकास होता है। व्यक्ति समाज व संस्कृति के बारे में ज्ञान अर्जित करने के पश्चात् अपने व्यक्तित्व में बहुत अच्छा निखार लाता है।

3.**राजनीतिक संस्थाएं–:**राजनीतिक संस्थाएं व्यक्ति को शासन,कानून,अनुशासन आदि सिखाती हैं। ये व्यक्ति को उसके कर्तव्यों और अधिकारों के प्रति पूरी तरह से जागरूक करती है। ये संस्थाएं समाज की दिशा का उचित ज्ञान कराती हैं,जिसके द्वारा व्यक्ति समाज में अपना समाजीकरण करके सही मार्ग की ओर जाता है।

4. धार्मिक संस्थाएं–: व्यक्ति के जीवन पर धर्म का गहरा प्रभाव पड़ता है। ये संस्थाएं हमें ईश्वर के बोध से अवगत कराती हैं। व्यक्ति में पवित्रता, न्याय, सच्चरित्रता, कर्तव्य, परायणता, ईमानदारी, दया आदि गुणों को विकसित करने हेतु धर्म अपना महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। धार्मिक संस्थाएं सिखाती है कि मंदिर या पवित्र स्थानों पर किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। अतः इस प्रकार ये संस्थाएं भी व्यक्ति को धार्मिक शास्त्रों से परिचित कराती है।

5. आर्थिक संस्थाएं–: आर्थिक संस्थाएं भी व्यक्ति को जीवन यापन में सक्षम बनाती है। ये संस्थाएं व्यक्ति को विभिन्न व्यावसायिक संघों से परिचित कराती हैं। प्रत्येक व्यक्ति में सहयोग, प्रतिस्पर्धा एवं समायोजन की भावना उत्पन्न कराती है।

6. सांस्कृतिक संस्थाएं–: सांस्कृतिक संस्थाओं के माध्यम से व्यक्ति समाज की संस्कृति से पूरी तरह परिचित होता है। नगरों और महानगरों में कवि सम्मेलन,नाटक,गोष्ठी आदि के आयोजनों द्वारा व्यक्ति को उस मसजा की संस्कृति से अवगत कराया जाता है। इनके द्वारा व्यक्ति अपनी प्रथाओं, परंपराओं, वेशभूषा, साहित्य, कला, भाषा आदि से परिचित होता है और ये संस्थाएं उसके व्यक्तित्व के विकास में लाभप्रद सिद्ध होती है।

4.14 समुदाय,समिति और संस्था में अंतर

समुदाय

1. समुदाय व्यक्तियों का एक समूह है।
2. व्यक्तियों का समूह होने के कारण समुदाय मूर्त है।
3. समुदाय के लिए सामुदायिक भावना अत्यंत आवष्यक है।
4. समुदाय में सहयोगी सामाजिक संबंधों पर विशेष जोर दिया जाता है।
5. समुदाय का अपना एक विशिष्ट नाम होता है।
6. समुदाय समाज का एक भाग है। एक समुदाय में एक से अधिक समाज नहीं हो सकते।
7. समुदाय की प्रकृति क्षेत्रीय स्थानीय है। इसमें अनेक समूह, समितियां, संघ आदि होते हैं। समुदाय को विभिन्न भागों में बांटकर अध्ययन किया जा सकता है।
8. समुदाय प्राकृतिक विकास है।
9. समुदाय में सामाजिक जीवन का पूरा दायरा शामिल है।
10. समुदाय की सदस्यता अनिवार्य है ।

समिति

1. समिति मूर्त होती है ।
2. समिति से मनुष्यों के समूह का बोध होता है
3. समिति की स्थापना की जाती है ।
4. समिति की प्रकृति अस्थाई होती है ।
5. समिति अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संस्था का निर्माण करती है ।
6. समिति का कोई निश्चित ढांचा नहीं होता है ।
7. प्रत्येक समिति का एक निश्चित काम होता है ।
8. समिति पारस्परिक सहयोग पर निर्भर करती है ।
9. समिति अनिवार्य रूप से सामाजिक विरासत नहीं है ।

संस्था

1. संस्था अमूर्त होती है ।
2. संस्था से नियमों तथा व्यवस्थाओं का बोध होता है ।
3. संस्था का विकास धीरे–धीरे स्वयं होता है ।
4. संस्था की प्रकृति स्थाई होती है ।
5. संस्था समिति का निर्माण करती है ।
6. संस्था का निश्चित सामाजिक ढांचा होता है ।
7. संस्था विशेष प्रतीकों द्वारा पहचानी जा सकती है ।
8. यह मनुष्यों की प्रक्रियाओं पर निर्भर करती है ।
9. संस्था अनिवार्य रूप से सामाजिक विरासत होती है ।

4.15 संदर्भ

1. ब्लॉक पीटर ''समुदायः द स्ट्रक्चर ऑफ बिलॉन्गिंग'' 2008
2. वेगल चार्ल्स'' द आर्ट ऑफ कम्युनिटीः सेवन प्रिंसिपल्स फॉर बिलॉन्गिंग'' 2016
3. ग्रोबमैन गैरी एम ''द नॉनप्रॉफिट हैंडबुकः एवरीथिंग यू नीड टू स्टार्ड एंड रन योर नॉनप्रॉफिट ऑर्गेनाइजेशन''2020
4. हॉपकिंस ब्रूस आर''एसोसिएशन लॉ हैंडबुकः एसोसिएशन,सोसायटी और चैरिटी के लिए एक प्रैक्टिकल गाइड'' 2019
5. आर. यंग डेनिस ''गैर–लाभकारी संगठनों का शासन, प्रबंधन और जवाबदेही'' 2010

MASY-116

स्वअध्ययन सामग्री

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

KeC[

2

समाज की मुख्य अवधारणाएँ–2

इकाई लेखक = डॉ0 अंजु बेनीवाल एसो. प्रोफेसर, समाजशास्त्र, राजकीय मीरा गर्ल्स कॉलेज, उदयपुर

इकाई –05 सामाजिक संरचना	69–80
इकाई –06 परिस्थिति एव भूमिका	81–94
इकाई –07 सामाजिक समूह एवं उसके प्रकार तथा संदर्भ समूह सिद्धांत	95–112
इकाई –08 सामाजिक नियंत्रण एवं इसके प्रकार	113–132

परामर्श समिति

प्रो0 सीमा सिंह, माननीय कुलपति, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज
कर्नल विनय कुमार, कुलसचिव, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज

पाठ्यक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)

प्रो0 संतोषा कुमार निदेशक, समाज विज्ञान विधाशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज
प्रो0 आशीष सक्सेना विभागाध्यक्ष,समाजशास्त्र विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय,प्रयागराज
प्रो0 महेश शुक्ला टी0 आर0 एस0 कालेज, ए0 पी0 एस0 विश्वविद्यालय,रीवाँ म0 प्र0।
डॉ0 रमेश चन्द्र यादव, असि प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, बैसवारा पी0 जी0 कालेज, लालगंज, रायबरेली।
डॉ0 सुचिता चतुर्वेदी, असि प्रोफेसर, (संविदा) समाजशास्त्र विभाग, समाज विज्ञान विधाशाखा।

इकाई लेखक= डॉ0 शशि पांडे असि.प्रोफेसर,समाजशास्त्र, एस.एस. खन्ना गर्ल्स डिग्री कॉलेज,प्रयागराज, इकाई = 1,2

इकाई लेखक = डॉ0 मनोज कुमार असि. प्रोफेसर, समाजशास्त्र (सं.) समाज विज्ञान विधाशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज,इकाई = 3,4

इकाई लेखक = डॉ0 अंजु बेनीवाल एसो. प्रोफेसर, समाजशास्त्र, राजकीय मीरा गर्ल्स कॉलेज, उदयपुर, राजस्थान इकाई = 5,6,7,8

इकाई लेखक = डॉ0 रामचन्द्र असि. प्रोफेसर, समाजशास्त्र, एस एस बी पी जी कॉलेज, सुदिस्तपुरी रानीगंज, बलिया इकाई = 9,10,11,12,13

सम्पादक – प्रो0 आलोक कुमार कश्यप, समाजशास्त्र विभाग, महाराजा बलवंत सिंह पी0 जी0 कालेज, गंगापुर, वाराणसी

पाठयक्रम . समन्वयक डॉ0 मनोज कुमार असि प्रोफेसर,(सं.) समाज विज्ञान विधाशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज

2023 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज– 211021

ISBN-

सर्वाधिक सुरक्षित इस सामग्री के किसी भी अंश को उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुन: प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट: पाठ्यक्रम सामग्री मे मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आंकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन– उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज

प्रकाशक– कुलसचिव, कर्नल विनय कुमार उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज

मुद्रक: चन्द्रकला यूनिवर्सल प्रा0लि0, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज– 211002

इकाई– 5 सामाजिक संरचना

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 सामाजिक संरचना का अर्थ

5.2.1 सामाजिक संरचना की विशेषताएं

5.2.2 सामाजिक संरचना के प्रकार

5.2.3 सामाजिक संरचना के तत्व

5.3 परिभाषाएँ

5.4 सामाजिक संरचना की विशेषताएं

5.5 सामाजिक संरचना के प्रकार

5.6 सामाजिक संरचना के तत्व

5.7 प्रकार्य की अवधारणा

5.8 प्रकार्य की विशेषताएं

5.9 सारांश

5.10 बोध प्रश्नो के उत्तर

5.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

5.0 उद्देश्य

इस इकाई में समाज की संरचना के निर्माण मे विभिन्न इकाइयों के योगदान का उल्लेख किया गया है सभी इकाइयां परस्पर व्यवस्थित रूप से सम्बन्धित होकर समाज के एक बाह्य स्वरूप को प्रदर्शित करती है जिसे सामाजिक संरचना कहते हैं।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान सकेंगे

- सामाजिक संरचना का अर्थ एवं परिभाषाएँ
- सामाजिक संरचना की विशेषताएँ एवं प्रकार

- सामाजिक संरचना को निर्मित करने वाले तत्व व प्रकार्य का अर्थ एवं विशेषताएँ

5.1 प्रस्तावना

सामाजिक संरचना किसी भी समाज को व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करती है। यह समाज के बाहरी स्वरूप को प्रदर्शित करता है। इसके निर्माण मे इकाइयों का व्यस्थित रूप मे परस्पर एक दूसरे से स्थायी रूप मे जुड़ना आवश्यक है। इस भाग में हम सामाजिक संरचना के अर्थ के साथ साथ उसके महत्व, विशेषताओं व तत्वों पर प्रकाश डालेंगे। सभी इकाइयां परस्पर कार्यात्मक ढंग से संरचना को बनाए रखने मे योगदान देती है अर्थात् किसी भी इकाई का क्रियात्मक योगदान प्रकार्य है। इस भाग में हम प्रकार्य की विशेषताओं का भी अध्ययन करेंगे।

5.2 सामाजिक संरचना का अर्थ

समाजशास्त्र में सामाजिक संरचना की अवधारणा का सर्वप्रथम प्रयोग हरबर्ट स्पेन्सर ने अपनी पुस्तक 'Principles of Sociology में किया। उन्होने सामाजिक संरचना की तुलना मानव शरीर से करते हुए बताया कि जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंग होते है जो मिलकर शरीर की बनावट या संरचना को बनाए रखते है ठीक उसी प्रकार समाज के भी विभिन्न अंग होते है जो समाज की बनावट या संरचना को बनाए रखते है। दुर्खीम ने भी अपनी पुस्तक 'The Rules of Sociological Method' में इस अवधारणा का प्रयोग किया। रैडक्लिफ ब्राउन का मत था कि जब कभी हम सामाजिक संरचना का उल्लेख करते हैं तो सामाजिक सरंचना से हमारा अभिप्राय एक व्यवस्था से होता है जिसमें विभिन्न तत्व एक–दूसरे से जुड़े होते है। तत्वों के इस समीकरण और व्यवस्थित पद्धति को ही सरंचना कहा जा सकता है। वे व्यक्ति को उस संरचना की इकाई मानते हैं। व्यक्ति का एक व्यवस्था में स्थान ग्रहण करना एक सामाजिक प्रक्रिया के तहत होता है जिसके अंतर्गत कुछ प्रतिमानों के कारण उन्हें वह स्थान मिला होता है। इस प्रकार सामाजिक सरंचना व्यक्ति का एक व्यवस्थित रूप है जिसमें उनके सामाजिक संबंध किसी खास संस्थात्मक मूल्यों से नियंत्रित होते हैं। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने ऑस्ट्रेलियाई और अफ्रीकी आदिवासी समाजों के उदाहरण उद्धृत किये। उन्होंने कहा कि उनमें रिश्तेदारी व्यवस्था संस्थागत रिश्ते का वर्णन है। ये रिश्ते व्यक्तियों को एक विशेष तरीके से एक साथ बांधते हैं और इस प्रकार उन्हें विशेष स्थिति प्रदान करते हैं। रिश्तेदार, पदों के समूह पर कब्जा करके, एक पैटर्न बनाते हैं

जिसे ''रिश्तेदारी संरचना'' कहा जाता है। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका की थोंगा और बंटू जनजातियों का एक और उदाहरण दिया। इनमें लेबोला नामक 'वधू–मूल्य' अदा करने की प्रथा है। शादी से जुड़ा यह रिवाज लोगों को एक सूत्र में बांधता है। लेबोला की अदायगी के लिए परिवार के लोग ही नहीं, नाते–रिश्तेदार भी जुट जाते हैं। इस प्रकार विवाह संस्था न केवल परिवार के सदस्यों को लाभ पहुंचाती है बल्कि एक प्रकार की आर्थिक सहायता भी प्रदान करती है। रैडक्लिफ ब्राउन सामाजिक संरचना को व्यक्तिगत जीवों की तरह ही वास्तविक मानते हैं। उनके अनुसार, सामाजिक संरचना और मानव जीव दोनों में परिवर्तन की संभावना है फिर भी वे स्थिर हैं। परिवर्तन से उनका तात्पर्य यह है कि दोनों संरचनाओं के अंग विकास या विनाश के लिए उत्तरदायी हैं। मानव जीव की क्षमताएं पहले शैशव से परिपक्वता तक विकसित होती हैं और फिर बुढ़ापे में उनका पतन शुरू हो जाता है। इसी प्रकार सामाजिक संरचना में नये मनुष्य जन्म लेते हैं और पुराने मरते रहते हैं। परन्तु इस निरंतर परिवर्तन के बावजूद भी उनकी मूलभूत विशेषताएँ स्थिर रहती हैं। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि सामाजिक संरचना का कार्यात्मक पहलू हमेशा परिवर्तन के अधीन रहता है जबकि बाहरी ढांचा स्थिर होता है। रैडक्लिफ ने क्रमशः वास्तविक संरचना और श्सामान्य संरचनाश शब्दों का प्रयोग किया है।

एस. एफ. नाडेल के अनुसार सामाजिक संरचना एक व्यवस्था है जिसमे सभी तत्व एक दूसरे से जुड़े होते है। उनके अनुसार समाज में तीन तत्व सदैव मौजूद रहते हैं–

मानव समूह, संस्थात्मक प्रतिमान (पैटर्न), संस्थात्मक स्वरूप जिनके अनुसार समूह के सदस्य परस्पर क्रिया करते है। ये व्यक्ति की भूमिका और स्थिति को निर्धारित करते है। टालकाट पारसन्स का मानना था कि किसी भी सामाजिक संरचना को समझने के लिए उस समाज के मूल्यों का तथा उसके संस्थात्मक स्वरूप को समझना आवश्यक है। उनके अनुसार किसी भी सामाजिक व्यवस्था के चार प्रमुख सामाजिक कार्य हैं–

(क) अनुकूलन : इसके अनुसार व्यक्ति को अपने भौतिक पर्यावरण के साथ सामंजस्य स्थापित करना होता है। अनुकूलन का कार्य आर्थिक व्यवस्था के द्वारा निष्पादित होता है जो सामाजिक व्यवस्था के अंग या महत्वपूर्ण इकाई के रूप में कार्य करता है।

(ख) लक्ष्य उपलब्धि : समाज में व्यक्ति व समूह के बीच लक्ष्य निर्धारित करना तथा उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए काम करना सम्मिलित होता है। लक्ष्य

उपलिब्ध का कार्य राजनीतिक व्यवस्था से होता है जो सामाजिक व्यवस्था के एक अंग या महत्वपूर्ण इकाई के रूप में यह कार्य करता है।

(ग) प्रतिमान अनुरक्षण : इसके अंतर्गत कार्यों को संपादित करने के लिए उत्साहवर्धन करना आता है । इसका निष्पादन परिवार अर्थात नातेदारी द्वारा किया जाता है।

(घ) एकीकरण : आंतरिक सम्बन्ध स्थापित कर एकीकृत करना भी उस समाज का कर्त्तव्य हो जाता है। एकीकरण का कार्य सांस्कृतिक व्यवस्था तथा सामुदायिक संगठन के द्वारा निष्पादित होता है। इन सभी कार्यों को उपसमूहों द्वारा सामाजिक व्यवस्था से जुड़कर संपादित किया जाता है।

टी. बी. बोटोमोर ने अपनी पुस्तक 'Sociology' में सामाजिक संरचना की विचारधाराओं को चार भागों में स्पष्ट करने का प्रयास किया है –

1. सामाजिक संबंधों के संरचनात्मक स्वरूप को मानने वाली विचारधारा– इस विचारधारा को स्वीकार करने वालों मे रेडक्लिफ ब्राउन मुख्य है, इनके अनुसार समाज एक प्रकार्यात्मक एकता है और इस एकता का आधार विभिन्न सामाजिक इकाइयों की प्रकार्यात्मक संबंद्धता है। ब्राउन ने संरचना का निर्माण करने वाले प्रत्येक इकाई के कार्य को महत्व दिया है। उन्होंने बताया है कि जिस प्रकार जीवों मे प्रत्येक इकाई कार्यात्मक महत्व रखती है, उसी उसी प्रकार सामाजिक सावयव का प्रत्येक अंग भी महत्वपूर्ण कार्य करता है।

2. व्याप्त स्थाई एवं संगठित संबंधों पर बल देने वाली विचारधारा– इस विचारधारा के समर्थकों में जींसबर्ग व पारसन्स प्रमुख हैं। इन्होने सामाजिक संरचना के निर्माण के लिए समाज के उन विभिन्न इकाइयों को मुख्य माना है जिससे कि समाज का निर्माण होता है। इस विचारधारा को मानने वाले संबंधों के अमूर्त प्रतिमानो पर अधिक जोर देते हैं।

3. सामाजिक भूमिका के आधार पर बल देने वाली विचारधारा– इस विचारधारा के समर्थकों में नॉडल तथा मिल्स प्रमुख हैं। इनका मानना है कि सामाजिक संरचना की वास्तविकता को समझने के लिए समाज के सदस्यों को कर्ता के रूप में स्वीकार करना होगा, जो कि एक दूसरे के प्रति भूमिकाओं का निर्वाह करते हैं। इन भूमिकाओं के द्वारा ही संबंधों का जाल बनता है, यह संबंधों का जाल ही सामाजिक संरचना का निर्माण करता है।

4. सामाजिक संबंधों के आदर्श रूप पर बल देने वाली विचारधारा– इस विचारधारा के समर्थकों के अनुसार व्यक्तियों के मध्य सामाजिक संबंधों को दो

रूपों में रखा जा सकता। एक रूप जो कि धार्मिक, भौतिक तथा कानून के रूप में स्पष्ट किया जाता है। दूसरा जो कि व्यवहार में वास्तविक रूप में प्रकट होते देखा जाता है। वास्तव में व्यवहार में वास्तविक आचरण प्रथम रूप में भिन्न हो सकता है। वर्तमान समय में जटिल समाजों में वास्तविक व्यवहार के अध्ययन में इतनी अधिक विभिन्नताएं होती हैं कि सामाजिक संरचना का वास्तविक ज्ञान करना अत्यंत मुश्किल हो जाता है। अतः धर्म, कानून तथा नैतिकता पर आधारित व्यवहार प्रतिमानों के अध्ययन द्वारा ही सामाजिक संरचना को ज्ञात किया जा सकता है।

अतः संक्षेप मे कहा जा सकता है कि जिस प्रकार किसी भौतिक वस्तु की संरचना होती है उसी प्रकार समाज की भी एक संरचना होती है जिसे सामाजिक संरचना कहते हैं। समाज की संरचना का निर्माण परिवार, संस्थाओं, मूल्य आदि कई इकाईयों के परस्पर सम्मिलन से होता हे। सभी इकाइयां परस्पर व्यवस्थित रूप से सम्बन्धित होकर समाज के एक बाह्य स्वरूप को प्रदर्शित करती है जिसे सामाजिक संरचना कहते हैं। प्रत्येक संरचना का निर्माण कई तत्वों या इकाइयों से होता है। इन इकाइयों में परस्पर स्थायी एवं व्यवस्थित संबंध पाये जाते है। स्थायीत्व न होने की स्थिति में संरचना बनती–बिगड़ती रहती है। संरचना का संबंध वस्तु की बाह्य आकृति या स्वरूप से होता है।

5.3 परिभाषाएं

- मजुमदार एवं मदान (Majumdar and Madan) के अनुसार, पुनरावृत्तीय सामाजिक सम्बन्धो के तुलनात्मक स्थायी पक्षों से सामाजिक संरचना बनती है। अर्थात बार–बार दोहराये जाने वाले व तुलनात्मक स्थायी संबंधों से सामाजिक संरचना का निर्माण होता है।

- कार्ल मानहीम (Karl Mannheim) के अनुसार, "सामाजिक संरचना परस्पर क्रिया करती हुई सामाजिक शक्तियों का जाल है जिससे अवलोकन और चिन्तन की विभिन्न प्रणालियो का जन्म होता है।" अर्थात् विभिन्न सामाजिक शक्तियाँ परस्पर व्यवस्थित क्रम में मिलकर सामाजिक संरचना का निर्माण करती है।

- रैडक्लिफ ब्राउन (Redcliff Brown) के अनुसार, ''सामाजिक संरचना के अंग (component) या भाग मनुष्य ही है और स्वयं संरचना संस्था द्वारा परिभाषित और नियमित सम्बन्धों में लगे हुए व्यक्तियों की एक क्रमबद्धता है।''

अर्थात् मनुष्य सामाजिक संबंधों द्वारा बंधे हुए है और इन नियमित संबंधों के व्यवस्थित स्वरूप से सामाजिक संरचना का निर्माण होता है।

- कोजर एवं रोजनबर्ग (Coser and Rosenberg) के अनुसार,"संरचना का तात्पर्य सामाजिक इकाइयो के तुलनात्मक स्थिर एवं प्रतिमानित सम्बन्धों से है।" अर्थात सामाजिक इकाइयों के स्थिर एवं व्यवस्थित संबंधों से सामाजिक संरचना का निर्माण होता है।

- रेमंड फ़र्थ के अनुसार– "सामाजिक संरचना पूरे भागों के क्रमबद्ध संबंध से संबंधित है, जिसमें सामाजिक जीवन के तत्व एक साथ जुड़े हुए हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक संरचना समाज की विभिन्न इकाइयों से निर्मित एक प्रतिमानित एवं क्रमबद्ध ढांचा है। यह एक स्थिर अवधारणा है जिसमें परिवर्तन अपवाद के रूप में ही होते है। सामाजिक संरचना समाज के बाह्य स्वरूप को प्रदर्शित करती है।

5.4 सामाजिक संरचना की विशेषताएं

1.समाज का बाह्य स्वरूप है (External form of society) – सामाजिक सरंचना का निर्माण विभिन्न इकाइयों के क्रमबद्ध व्यवस्था में जुड़ने से होता है। ये इकाइयां एक ढांचे का निर्माण करती है जो समाज के बाह्य स्वरूप को प्रदर्शित करती है। अतः सामाजिक संरचना समाज का बाह्य स्वरूप है। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंग व्यवस्थित क्रम में मिलकर शरीर का निर्माण करते है ठीक उसी प्रकार विभिन्न इकाइयाँ क्रमबद्ध रूप से जुड़कर संरचना का निर्माण करती है।

2. अखण्ड व्यवस्था नहीं है (Not a non&segmented Organization) – प्रत्येक सामाजिक संरचना का निर्माण कई इकाइयों जैसे–व्यक्ति, समूह, संस्था आदि से होता है। इस प्रकार सामाजिक संरचना का निर्माण अनके खण्डों से होता है अतः यह अखण्ड नहीं हैं। सभी इकाइया एक क्रम में जुडकर एक बनावट को प्रकट करती है।

3. स्थानीय विशेषताओं को प्रभावित करती है (Effects the provincial characteristics) – सामाजिक संरचना सांस्कृतिक व्यवस्थाओं से प्रभावित होती है अतः प्रत्येक समाज की संरचना दूसरे समाज से भिन्न होती है। विभिन्न स्थानों की संस्कृति भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव सामाजिक संस्थाओं पर पड़ता है जिससे सामाजिक संरचना में भिन्नता पायी जाती है। रेडक्लिक ब्राउन ने सामाजिक संरचना की धारणा में स्थानीय विशेषताओं को उपयोगी एवं

महत्वपूर्ण माना है अर्थात् स्थानीय विशेषताएं सामाजिक संरचना का निर्धारण करती है।

4. अमूर्त व्यवस्था है (bstract arrangement) – सामाजिक सरंचना का निर्माण विभिन्न संस्थाओं, प्रतिमानों एवं भूमिकाओं से मिलकर होता है। इन्हें देखा या छुआ नहीं जा सकता अतः इनसे निर्मित सामाजिक संरचना भी अमूर्त होती है। मैकाइबर व पारसन्स सामाजिक संरचना को एक अमूर्त धारणा मानते है। समाज का निर्माण सामाजिक संबंधों से होता है तथा सामाजिक संबंध अमूर्त है, अतः सामाजिक संरचना भी अमूर्त होती है।

5. अपेक्षाकृत स्थायी अवधारणा है (Comparatively permanent concept) – सामाजिक संरचना का निर्माण करने वाली इकाइयां अपेक्षाकृत स्थायी होती है अतः सामाजिक संरचना भी स्थायी अवधारणा है तथा सामाजिक संरचना का निर्माण करने वाली इकाईयों के पारस्परिक सम्बन्धों में भी स्थिरता पायी जाती है। उदाहरण– समाज का निर्माण करने वाली विभिन्न समितियां एवं संस्थाएं जैसे परिवार, विवाह आदि अपेक्षाकृत स्थायी रूप से पायी जाती है।

6. इकाईयों की क्रमबद्ध व्यवस्था है (Systematic arrangement of units) – सामाजिक संरचना का निर्माण इकाइयों के व्यवस्थित ढंग से जुड़ने से नहीं होता वरना उन्हें एक विशिष्ट क्रम में जोड्ने से होता है। उदाहरण– पत्थर, चूना, सीमेंट के ढेर से मकान नहीं बनता जब तक कि उन्हें एक निश्चित क्रम में न जोड़ा जाए। किसी भी इकाई का महत्व एक व्यवस्थित क्रम में जुड़ने से ही होता है। इकाइयां व्यवस्थित क्रम में जुड़कर ही एक संरचना का निर्माण करती है।

बोध प्रश्न 1

1. सामाजिक संरचना की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए तथा इसकी विशेषताएं बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

5.5 सामाजिक संरचना के प्रकार

पारसन्स ने सामाजिक मूल्यों के आधार पर सामाजिक संरचना के चार रूपों का वर्णन किया। उन्होंने चार प्रकार के सामाजिक मूल्य माने–

1.सार्वभौमिक सामाजिक मूल्य (Universal social values)– वे मूल्य जो सभी समाजों में पाये जाते हैं तथा सभी लोगों पर लागू होते हैं, सार्वभौमिक सामाजिक मूल्य कहलाते है। उदाहरण– बड़ों का सम्मान व अतिथि सत्कार सभी समाजों में पाये जाने वाले मूल्य हैं।

2. विशिष्ट सामाजिक मूल्य (Specific social values)– वे मूल्य जो किसी समाज विशेष तक ही सीमित होते हैं, विशिष्ट सामाजिक मूल्य कहलाते हैं। उदाहरण– यौन पवित्रता का मूल्य भारत में ही पाया जाता हे।

3. अर्जित सामाजिक मूल्य (Achieved social values)– वे पद जिन्हें व्यक्ति प्रयत्नों के द्वारा प्राप्त करता है, अर्जित सामाजिक मूल्य कहलाते हैं।

4. प्रदत्त सामाजिक मूल्य (Ascribed social values)– वे पद जिनका संबंध जन्म एवं परम्परा से होता है, प्रदत्त सामाजिक मूल्य कहलाते हैं।

उपरोक्त सामाजिक मूल्यो के आधार पर चार प्रकार की सामाजिक संरचना पायी जाती है। वे इस प्रकार हैं–

1.सार्वभौमिक प्रदत्त प्रतिमान (Universal Ascribed Pattern)– इसमे सार्वभौमिक एवं प्रदत्त दोनों प्रकार के प्रतिमान आते है। इस प्रकार की सामाजिक संरचना वाले समाजों में प्रदत्त प्रतिमानों को सार्वजनिक रूप से स्वीकार किया जाता है। इन समाजों में परम्परागत आदशों एवं मूल्यों को अधिक महत्व दिया जाता है उदाहरण– परम्परागत समाज।

2.सार्वभौमिक अर्जित प्रतिमान (Universal achieved pattern) – इसमें सार्वभौमिक एवं अर्जित दोनों प्रकार के प्रतिमान आते हैं। इस प्रकार की सामाजिक संरचना वाले समाजों में व्यक्तिगत गुणों को सार्वभौमिक रूप से स्वीकार किया जाता है। उदाहरण– पूँजीवादी समाज।

3. विशिष्ट अर्जित प्रतिमान (Specific achieved pattern)– इस प्रकार की सामाजिक संरचना में व्यक्तिगत गुणों को अधिक महत्व दिया जाता है तथा ये किसी विशिष्ट प्रकार के समाजों में पाये जाते हैं। उदाहरण– स्पेन।

4. विशिष्ट प्रदत्त प्रतिमान (Specific ascribed pattern)– इस प्रकार की सामाजिक संरचना में प्रदत्त मूल्यों पर अधिक जोर दिया जाता है। ये प्रदत्त मूल्य किसी विशिष्ट समाज में पाये जाते हैं। उदाहरण– परिवार तथा गोत्र का महत्व भारत में अधिक पाया जाता है।

बोध प्रश्न 2

1. सामाजिक संरचना के प्रकार बताइयें।

.....
.....
.....
.....
.....

5.6 सामाजिक संरचना के तत्व

जॉनसन ने सामाजिक व्यवस्था की संरचना के चार तत्वों का उल्लेख किया– सामाजिक सरंचना के तत्व विभिन्न प्रकार के उप–समूह विभिन्न प्रकार की भूमिकाएँ नियामक मानक सांस्कृतिक मूल्य

1. विभिन्न प्रकार के उप–समूह (Sub&groups of various Types)– जॉनसन के अनुसार विभिन्न प्रकार के उप–समूह मिलकर सामाजिक संरचना का निर्माण करते है। प्रत्येक उप–समूह एक आंशिक संरचना भी हो सकता है। ये उप–समूह परस्पर अन्तरसम्बन्धित होते है। उदाहरण–परिवार, जाति, वर्ग आदि।

2. विभिन्न प्रकार की भूमिकाएँ (Various Types of Roles)– उप–समूहों में अनेक प्रकार को भूमिकाएँ होती है। जॉनसन ने इन भूमिकाओं को उप–संरचना माना है। एक भूमिका व्यवस्था दूसरी भूमिका व्यवस्था से संबंधित होती है।

3. नियामक मानक (Regulative norms) – नियामक मानक उप–समूहों और भूमिकाओं का संचालन ओर नियंत्रण करते है। मानक दो प्रकार के होते है– सकारात्मक व निषेधात्मक। सकारात्मक मानक प्रकृति से तार्किक होते है तथा उप–समूहों की भूमिकाओं को करने के लिए अनुमति प्रदान करते है जबकि निषेधात्मक मानक यह बताते है कि कौन–कौन से कार्य नहीं करने चाहिए।

4. सांस्कृतिक मूल्य (Cultural values)– सामाजिक संरचना में ज्ञान, विश्वास, कला, धर्म आदि सांस्कृतिक मूल्य भी होते है। ये सामाजिक क्रियाओं को नियमित करते है। ये जीवन के विभिन्न पक्षों से संबंधित होते तथा इनसे जीवन के विभिन्न पहलूओं का मूल्यांकन भी किया जाता है।

5.7 प्रकार्य की अवधारणा

सामाजिक संरचना को व्यवस्थित बनाये रखने के लिए उसमें विद्यमान इकाइयों द्वारा जो सकारात्मक योगदान दिया है, उसे प्रकार्य कहते है। जिस प्रकार शरीर की सरंचना का निर्माण विभिन्न अंगो, जैसे हाथ, पांव, नाक, पेट, आदि से होता है। शरीर में व्यवस्था को बनाये रखने के लिए इन अंगो द्वारा जो योगदान दिया जाता है, उसे प्रकार्य कहते है। अर्थात् किसी भी इकाई का क्रियात्मक योगदान प्रकार्य है।

परिभाषा

- रैडक्लिक ब्राउन के अनुसार,किसी सामाजिक इकाई का प्रकार्य उस इकाई का वह योगदान है जो वह सामाजिक व्यवस्था की क्रियाशीलता के रूप में सामाजिक जीवन को देती है।" अर्थात इकाई के प्रकार्य के द्वारा सामाजिक व्यवस्था में क्रियाशीलता का प्रतिपादन होता है। प्रकार्य इकाई का वह कार्य है जो व्यक्ति के सामाजिक अनुकूलन में सहयोग देता है।
- मर्टन (Merton) के अनुसार, ''प्रकार्य वे अवलोकित परिणाम है जो सामाजिक व्यवस्था के अनुकूलन या सामंजस्य को बढ़ाते है।'' अर्थात इकाइयों के वे सभी कार्य प्रकार्य की श्रेणी में आते है जिनसे समाज में व्यवस्था बनी रहती है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि प्रकार्य समाज की इकाई का वह योगदान है जो समाज में व्यवस्था को बनाये रखने में सहायता करता है। सामाजिक इकाई प्रकार्य द्वारा सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने एवं समाज में सामंजस्य स्थापित करने में सहायता करती है।

5.8 प्रकार्य की विशेषताएं

समाज द्वारा स्वीकृत और मान्य कार्यो को ही प्रकार्य कहेंगे।

- समाज में विभिन्न इकाइयों के कार्य विभाजित होते है। सभी इकाइयाँ अपना–अपना कार्य करती है। विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वे परस्पर सहयोग करती है जिससे समाज में एकता व संगठन बना रहता है।
- प्रकार्य से इकाइयों में प्रकार्यात्मक संबंध एवं प्रकार्यात्मक एकता (Functional unity) पैदा होती है। सभी इकाइयाँ एक दूसरे से सहयोग करती है।
- प्रकार्य का प्रमुख उद्देश्य मानवीय एवं सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति

करना है। प्रत्येक इकाई प्रकार्य द्वारा किसी न किसी आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।

- प्रकार्य से ही समाज का अस्तित्व है। यदि इकाइयाँ अपना कार्य करना बन्द कर दे तो समाज विघटित हो जायेगा। जिस प्रकार शरीर का अस्तित्व तभी तक है जब तक कि शरीर के विभिन्न अंग अपना कार्य कर रहे है।
- प्रकार्य प्रकट एवं अप्रकट प्रकार के होते है। जब प्रकार्य से समाज द्वारा इच्छित उद्देश्यों को प्राप्त किया जाता है तथा वे स्पष्ट होते है तो उन्हें प्रकट प्रकार्य कहते है, किन्तु कभी–कभी प्रकायों के कुछ ऐसे परिणाम आते है जिनके बारे में कभी सोचा ही नहीं गया था, तो उन्हें अप्रकट प्रकार्य कहते है। **उदाहरण** के लिए अच्छी नौकरी प्राप्त करने के लिए लड़के द्वारा उच्च शिक्षा प्राप्त करने पर उच्च शिक्षित नौकरी पेशा लड़की से विवाह होना।
- प्रकार्य एक गतिशील अवधारणा है। एक समाज में जो कार्य उपयोगी होता है वह उस समाज के लिए प्रकार्य कहलाता है लेकिन वही कार्य किसी अन्य समाज में अनुपयोगी होने पर प्रकार्य नहीं कहलायेगा।

बोध प्रश्न 3

1. सामाजिक संरचना के चार तत्वों के नाम लिखिए।

.....
.....
.....

2. प्रकट प्रकार्य एवं अप्रकट प्रकार्य में अन्तर बताइये।

.....
.....
.....

3. प्रकार्य किसे कहते है? प्रकार्य की विशेषताएं बताइए।

.....
.....
.....

5.9 सारांश

समाज की संरचना का निर्माण परिवार, संस्थाओं, प्रतिमानों, मूल्यों आदि कई इकाईयों के व्यवस्थित रूप से सम्बन्धित होकर समाज के एक बाह्य स्वरूप को प्रदर्शित करने से होता है। इन इकाइयों में परस्पर स्थायी एवं व्यवस्थित संबंध पाये जाते है। सामाजिक संरचना विभिन्न स्थानों की संस्कृति एवं भौगोलिक दशाओं से प्रभावित होती है। जिससे उसमे भिन्नता देखने को मिलती है। सामाजिक संरचना किसी भी समाज का एक अभिन्न अंग है उसको समझे बिना किसी भी समाज को नहीं समझा जा सकता है।

5.10 बोध प्रश्नो के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. भाग 1.2 व उपभाग 1.2.1 देखें

बोध प्रश्न 2

1. उपभाग 1.2.2 देखें

बोध प्रश्न 3

1. उपभाग 1.2.3 देखें
2. भाग 1.3 देखें
3. भाग 1.3 व उपभाग 1.3.1 देखें

5.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- Majumdar and Madan, An Introduction to social Anthropology,
- Karl Mannheim, Ideology and Utopia,
- R. Brown, African System of kinship and Marriage,
- Coser and Rosenberg, Sociological theory
- Talcott Parsons, The Social System,
- Johnson, Sociology,
- A.R. Brown, Structure and Function in Primitive Society,
- R.K. Merton, Social Theory and Social Structure,

इकाई 6 प्रस्थिति एवं भूमिका

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 सामाजिक प्रस्थिति का अर्थ एवं परिभाषाएँ

1 बोध प्रश्न

6.3 प्रदत्त एंव अर्जित प्रस्थिति के प्रकार

6.3.1 प्रदत्त प्रस्थिति के आधार

6.3.2 अर्जित प्रस्थिति के आधार

2 बोध प्रश्न

6.4 भूमिका का अर्थ एव परिभाषाएँ

6.5 भूमिका से संबंधित अवधारणाएं

6.6 मर्टन का भूमिका एवं प्रस्थिति से संबंधित अवधारणाएं

6.7 प्रस्थिति और भूमिका का समाजशास्त्रीय महत्व

3 बोध प्रश्न

6.8 सारांश

6.9 बोध प्रश्नो के उत्तर

6.0 उद्देश्य

इस इकाई में सामाजिक प्रस्थिति और भूमिका की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए उनके समाजशास्त्रीय महत्व का उल्लेख किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति की समाज मे एक या एक से अधिक प्रस्थितियाँ होती है तथा उन प्रस्थितियों के अनुरूप उसे भूमिकाओं का पालन करना पड़ता है।

1. इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान सकेंगे
2. प्रस्थिति का अर्थ एवं परिभाषाएँ
3. सामाजिक प्रस्थिति के प्रकार

4. भूमिका का अर्थ एवं परिभाषाएँ
5. भूमिका से संबंधित कुछ अवधारणाएं
6. प्रस्थिति और भूमिका का समाजशास्त्रीय महत्व

6.1 प्रस्तावना

समाज में प्रत्येक व्यक्ति का कोई–न–कोई स्थान अथवा पद अवश्य होता है। एक व्यक्ति एक क्षेत्र में उच्च पद हो सकता है लेकिन दूसरे क्षेत्र में उसका पद निम्न हो सकता है। उदाहरण के लिए एक ब्राह्मण जाति व्यवस्था में उच्च पद है लेकिन यदि वह किसी कार्यालय में चपरासी के पद कार्य कर रहा है तो वहाँ उसका पद निम्न होगा। इस प्रकार एक व्यक्ति का समाज में कोई न कोई पद अवश्य होता है जिसे समाजशास्त्रीय भाषा में 'प्रस्थिति' कहा जाता है तथा एक प्रस्थिति को धारण करने के पश्चात समाज उस व्यक्ति से जिस प्रकार के व्यवहार या कार्यो की आपेक्षा करता है तथा उसके अनुरूप वह जो कार्य करता है, उसे उसकी 'भूमिका' कहते है।

प्रत्येक समाज की संरचना का निर्माण प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं के व्यवस्थित संयोग से ही होता है। बीरस्टीड़ ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा कि समाज सामाजिक प्रस्थितियों का जाल है। अर्थात् अनेक प्रस्थितियाँ व्यवस्थित रूप से मिलकर समाज का निर्माण करती है। प्रत्येक सामाजिक प्रस्थिति एवं भूमिका का संबंध सामाजिक आदशों, मूल्यों एवं मानदण्डों से होता है। एक प्रस्थिति के अनुरूप भूमिका के निर्वाह की स्थिति को 'प्रस्थिति एवं भूमिका का संतुलन' (Balance of Status and Role) कहते है। यह संतुलन सामाजिक व्यवस्था का आधार है। राल्फ लिण्टन ने सर्वप्रथम इन दोनों अवधारणाओं की विस्तृत व्याख्या की है।

6.2 प्रस्थिति का अर्थ एवं परिभाषा

समाज में एक ढॉचे के साथ–साथ एक संगठन का पाया जाना भी अनिवार्य तत्व है। सामाजिक संगठन के लिए समाज में विद्यमान स्वीकृत पदों पर आसीन व्यक्तियों का योग्यता एवं कुशलता के साथ पद से संबंधित दायित्वों को पूरा करने की आशा की जाती है। अतः समाज में प्रत्येक व्यक्ति की एक प्रस्थिति और भूमिका होती है। समाज में उच्च एवं निम्न प्रस्थितियाँ पायी जाती है। विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्ति की प्रस्थिति भी भिन्न–भिन्न प्रकार की हो सकती है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति की अपने परिवार में प्रस्थिति उच्च हो सकती है। लेकिन वहीं कार्यालय में उसका पद निम्न होने के कारण उसकी प्रस्थिति

निम्न हो सकती है। व्यक्ति से यह आशा की जाती है कि वह भिन्न–भिन्न प्रस्थितियों में उनके अनुरूप भूमिका का निर्वाह करेगा। अतः सामाजिक संगठन को बनाये रखने के लिए भूमिका एवं प्रस्थिति में संतुलन का होना जरूरी है। व्यक्ति अपने जीवनकाल में अनेक प्रस्थितियों को ग्रहण करता है तथा प्रस्थिति में परिवर्तन भी संभव है।

ऑगबर्न तथा निमकॉफ के अनुसार, "प्रस्थिति की सबसे सरल परिभाषा यह है कि यह समूह में व्यक्ति के पद का प्रतिनिधित्व करती है।" अर्थात जिस पद पर व्यक्ति कार्य करता है वही उसकी प्रस्थिति कहलाती है।

लेपियर के अनुसार, "सामाजिक प्रस्थिति सामान्यतः उस पद के रूप में समझी जाती है जो एक व्यक्ति समाज में प्राप्त किये होता है।" अर्थात् व्यक्ति को जो पद समाज में जन्म अथवा कर्म के आधार पर प्राप्त होता है वह उसकी प्रस्थिति कहलाती है।

लिण्टन के अनुसार, "सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत किसी व्यक्ति को एक समय विशेष में जो स्थान प्राप्त होता है, उसी को उस व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति कहा जाता है।"

बीरस्टीड के अनुसार, "एक प्रस्थिति समाज अथवा एक समूह में एक पद है। अर्थात् प्रस्थिति को समाज में व्यक्ति के पद के रूप में समझा जा सकता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समाज अथवा समूह में प्रस्थिति एक पद की सूचक है। यह पद समाज द्वारा व्यक्ति को या तो स्वतः ही प्राप्त होता है अथवा व्यक्ति अपने गुणों एवं योग्यता से इसे प्राप्त करता है। प्रत्येक प्रस्थिति से कुछ सामाजिक नियम, मूल्य और मानदण्ड जुड़े होते है और प्रत्येक व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह इन मानदण्डों का पालन करे अन्यथा उसे आलोचना का शिकार होना पड़ता है। एक व्यक्ति एक समय में अनेक प्रस्थितियां प्राप्त करता है लेकिन वह एक प्रमुख प्रस्थिति (Key Status) के द्वारा ही समाज में जाना जाता है।

डेविस (Davis) ने इन विभिन्न प्रस्थितियों की समग्रता को 'station' नाम से पुकारा है जिसे सामान्य रूप से 'प्रस्थिति संकुल भी कहा जाता है। 'station' के अतिरिक्त एक अन्य शब्द 'Stratum'का भी प्रयोग किया जाता है। 'Stratum' से तात्पर्य उन व्यक्तियों के समूह से है जो समाज में लगभग समान पदों पर आसीन है। उदाहरण के लिए सभी वकील, सभी कलाकार आदि। 'Stratum' को प्रस्थिति समूह' भी कहा जा सकता है। इस समूह से संबंधित लोगों की

समस्याएँ तथा स्वार्थ लगभग समान होते है और इनमें अपने हितों को लेकर संगठन की जो धारणा पायी जाती है उसे प्रस्थिति समूह की एकता (stratum solidarity) कहा जाता है।

1 बोध प्रश्न

1. प्रस्थिति को परिभाषित कीजिए।

.....
.....
.....
.....
.....
.....

6.3 प्रदत्त एंव अर्जित प्रस्थिति के प्रकार

व्यक्तियों को समाज में प्रस्थिति प्राकृतिक एवं सामाजिक आधार पर प्राप्त होती है अर्थात कुछ प्रस्थितियों को व्यक्ति अपनी योग्यता एवं कुशलता से प्राप्त करता है तथा कुछ प्रस्थितियाँ उसे बिना किसी प्रयास के स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। जिन प्रस्थितियों को व्यक्ति अपनी योग्यता से प्राप्त करता है वे सामाजिक प्रस्थितियाँ होती हे जैसे– डॉक्टर, इंजीनियर आदि। इसके विपरीत जो प्रस्थितियाँ व्यक्ति को स्वतः प्राप्त होती है उन्हें प्राकृतिक प्रस्थितियाँ कहते है जैसे–पिता, बहिन, भाई आदि। राल्फ लिण्टन ने सन् 1936 में समाज में पायी जाने वाली प्रस्थितियों को दो प्रमुख भागों में विभक्त किया–

क्रसं	प्रदत्त प्रस्थिति	अर्जित प्रस्थिति
1	समाज में कुछ प्रस्थितियां व्यक्ति को जन्म व परम्परा आदि के साथ स्वतः ही प्राप्त हो जाती है; वे प्रदत्त प्रस्थितियां कहलाती है।	समाज में कुछ प्रस्थितियां व्यक्ति अपने गुण, योग्यता एवं क्षमता के आधार पर प्राप्त करता है, वे आर्जित प्रस्थितियां कहलाती है।
2	प्रदत्त प्रस्थितियों पर व्यक्ति का अपना कोई नियंत्रण नहीं होता। यह परम्परागत नियमों के अनुसार निर्धारित होती है।	व्यक्ति अपनी योग्यता एवं कुशलता से बाधाओं पर विजय प्राप्त करके स्वयं अपनी प्रस्थिति का निर्धारण करते है।

3	आदिम व परम्परागत समाजों में प्रदत्त प्रस्थितियां अधिक पायी जाती है।	आधुनिक समाजों में जहां जन्म के बजाय व्यक्ति के गुणों को अधिक महत्व दिया जाता है, अर्जित प्रस्थितियां अधिक पायी जाती है।
4	प्रदत्त प्रस्थिति का निर्धारण जन्म, लिंग, आयु, जाति, प्रजाति, नातेदारी, परिवार आदि के आधार पर होता है।	अर्जित प्रस्थिति का निर्धारण शिक्षा, आय, सम्पत्ति व्यवसाय, व्यक्तिगत योग्यता, राजनीतिक अधिकार, कलात्मक गुण, आविष्कार करने की क्षमता आदि के आधार पर होता है।
5	प्रदत्त प्रस्थितियां अनिश्चित होती है तथा उनका अधिकार क्षेत्र अधिक स्पष्ट नहीं होता। उदाहरण के लिए एक माता के अधिकारों की सीमा निर्धारित नहीं है।	अर्जित पद अधिक निश्चित एवं स्पष्ट होते है। एक अध्यापक या राष्ट्रपति के क्या अधिकार है, यह कानून और संविधान द्वारा स्पष्ट है।
6	फिच्चर के अनुसार प्रदत्त प्रस्थिति और उसमें सबंधित भूमिका में सामंजस्य होना आवश्यक नहीं है। जैसे–एक माता अपने बच्चों के लालन–पालन पर समुचित ध्यान दे यह आवश्यक नहीं है ऐसा नहीं करने पर उसे दण्डित नहीं किया जा सकता है।	अर्जित प्रस्थितियों ओर उससे संबंधित भूमिका में सांमजस्य होना आवश्यक है। जैसे–एक डॉक्टर व इंजीनियर अपनी भूमिकाओं का निर्वाहक ठीक से नहीं करते तो उनके लिए दण्ड की व्यवस्था होती है।
7	प्रदत्त प्रस्थिति अपेक्षाकृत स्थिर होती है।	अर्जित प्रस्थिति परिवर्तनशील होती है तथा यह व्यक्ति के जीवनकाल में अनेक बार परिवर्तित हो सकती है।
8	इसका निर्धाण सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों के अनुसार होता है।	इसका निर्धारण आर्थिक व्यवस्था से होता है। आर्थिक अवसरों में वृद्धि ने इस प्रस्थिति का महत्व बढ़ा दिया है।
9	प्रदत्त प्रस्थिति का महत्व बढ़ने से एक बन्द समाज (closed society) का निर्माण होता है।	अर्जित प्रस्थिति का महत्व बढ़ने से एक मुक्त समाज (open society) को प्रोत्साहन मिलता है।
10	प्रदत्त प्रस्थिति से सामूहिकता को प्रोत्साहन मिलता है।	अर्जित प्रस्थिति से व्यक्तिवादिता तथा प्रतियोगिता को भावना को प्रोत्साहन मिलता है।

सैद्धान्तिक रूप से प्रदत्त और अर्जित प्रस्थितियां एक–दूसरे की विरोधी प्रतीत होती है,किन्तु कार्यात्मक दृष्टि से दोनों परस्पर पूरक है। यही कारण है कि प्रत्येक समाज में दोनों ही प्रकार की प्रस्थितियां पायी जाती है। प्रदत्त प्रस्थितियां अधिक महत्वपूर्ण होती है क्योंकि इनके कारण सांस्कृतिक विरासत संरक्षित रहती है तथा व्यक्ति को जीवन में विकास के उचित अवसर भी प्राप्त होते है। प्रदत्त प्रस्थितियां व्यक्ति के उद्देश्यों को स्पष्ट करती है और उनके आधार पर व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास का अनुमान लगाया जा सकता है। इसके साथ ही अर्जित प्रस्थिति के कारण व्यक्ति अधिक से अधिक परिश्रम करना सीखता है तथा व्यक्ति अपने कार्यो के प्रति जागरूक रहता है। अतः स्पष्ट है कि प्रदत्त प्रस्थिति व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति की रूपरेखा का निर्माण करती है और अर्जित प्रस्थिति व्यक्ति के व्यक्तित्व के वास्तविक रूप का निर्माण करती हे।

6.3.1 प्रदत्त प्रस्थिति के आधार

लिंग – लिंग के आधार पर प्रस्थिति तथा भूमिका में अंतर प्राचीनकाल से चला आ रहा है। प्राणीशास्त्रीय दृष्टि से भी स्त्रयों को पुरूषों से निम्न समझा जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से भी स्त्रियों को पुरूषों की तुलना में निम्न प्रस्थिति मिलती है व धार्मिक आधार पर भी स्त्रियों को पुरूषों से कम महत्वपूर्ण समझा जाता है। उदाहरण के लिये नीलगिरी की टोडा जनजाति में स्त्रियों को मासिक धर्म के दौरान अपवित्र समझा जाता है तथा टोडा जनजाति के पुरोहित को अविवाहित रहना पडता है। हिन्दु समाजों में भी मासिक धर्म के दौरान स्त्रियों को पूजा.पाठ करने की मनाही होती है। अतः यौन–भेद के आधार पर स्त्रियों तथा पुरूषों में पाये जाने वाला श्रम–विभाजन भी उनकी निम्न प्रस्थिति का सूचक है।

आयु – आयु के आधार पर निश्चित प्रस्थिति प्रदान नहीं की जा सकती लेकिन परिवार में आयु के आधार पर व्यक्ति एक विशेष प्रस्थिति प्राप्त करता है। उस निर्धारित प्रस्थिति के अनुरूप भूमिका की उससे अपेक्षा की जाती है। आयु को पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है– शैशवावस्था (Infancy), बाल्यावस्था (Childhood), युवावस्था (Puberty) , प्रौढावस्था (maturity) तथा वृद्धावस्था (Old age)। इन सभी आयु समूहों में व्यक्ति की प्रस्थितियाँ भिन्न–भिन्न होती है तथा आयु के बढ़ने के साथ–साथ समाज में व्यक्ति की प्रस्थिति भी बढ़ती जाती है। आयु का महत्व नगरीय समाजों की अपेक्षा ग्रामीण समाजों में अधिक है।

नातेदारी – व्यक्ति को नातेदारी के आधार पर भी कुछ विशेष प्रस्थितियाँ प्राप्त

होती है। प्राचीनकाल से व्यक्ति को वही प्रस्थिति प्राप्त होती है जो उसके माता–पिता को प्राप्त है। अर्थात यदि माता–पिता उच्च कुल से संबंध रखते है तो उनकी प्रस्थिति समाज में उच्च होगी तथा उनकी संतान की प्रस्थिति भी उच्च होगी। नातेदारी के कारण व्यक्ति को समाज में ही नहीं वरन् परिवार में भी कुछ विशेष प्रस्थितियां प्राप्त होती है। जैसे– एक व्यक्ति किसी का पिता, पति, भाई, चाचा आदि हो सकता है।

जन्म – व्यक्ति का जन्म किस जाति, प्रजाति या परिवार में हुआ है, इस आधार पर भी उसकी प्रस्थिति का निर्धारण होता है। उच्च परिवार में जन्म लेने पर उच्च प्रस्थिति व निम्न परिवार में जन्म लेने पर निम्न प्रस्थिति प्राप्त होती है। जन्म की वैधता तथा अवैधता भी प्रदत्त प्रस्थिति का आधार है। अवैध संतान की प्रस्थिति वैध संतान की अपेक्षा निम्न होती है।

परिवार की परम्पराएँ – यदि परिवार संभ्रान्त एवं कुलीन है तो व्यक्ति को उसके अवगुणों को अनदेखा करके समाज में उच्च प्रस्थिति दे दी जाती है। इसके विपरीत यदि क्षुद्र परिवार का अच्छा व्यक्ति है तो भी उसे निम्न प्रस्थिति प्राप्त होती है।

इस प्रकार समाज में अनेक आधारों पर प्रस्थितियाँ प्रदान की जाती है। यह प्रस्थितियां व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नहीं करती।

6.3.2 अर्जित प्रस्थिति के आधार

अर्जित प्रस्थिति के निम्नलिखित आधार पाये जाते है

उपलब्धियाँ – व्यक्ति अपनी योग्यता एवं कुशलता से समाज में जिस प्रस्थिति को प्राप्त करता है उसे उसकी अर्जित प्रस्थिति कहते है। इस प्रकार की प्रस्थिति को व्यक्ति कड़ी मेहनत व लगन से प्राप्त करता है। उदाहरण के लिए कोई भी व्यक्ति जन्म से डॉक्टर, लेखक, अभिनेता आदि नहीं होता। अपने निरन्तर प्रयत्न, व्यक्तिगत रूचि तथा योग्यता के द्वारा ही वह इन प्रस्थितियों को अर्जित करता है।

विवाह – विवाह करने के पश्चात् व्यक्ति, पति–पत्नी, माता–पिता,जंवाई, भाभी, बहू आदि प्रस्थितियां प्राप्त करता है।

शिक्षा – शिक्षा भी अर्जित प्रस्थिति का एक प्रमुख आधार है। अशिक्षित व कम पढ़े लिखे लोगों कौ अपेक्षा शिक्षित व अधिक पढ़े लिखे लोगों की सामाजिक प्रस्थिति उच्च होती है।

सम्पत्ति – सम्पत्ति की मात्रा व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण करती है अर्थात एक गरीब की तुलना में अमीर की प्रस्थिति उच्च होती हे। लेकिन सम्पत्ति के अधिक होने के साथ–साथ यह भी देखा जाता है कि सम्पत्ति का अर्जन किस प्रकार से किया गया है। अर्थात एक ईमानदार अफसर की प्रस्थिति बेईमान अफसर की प्रस्थिति से उच्च होती है।

सामाजिक–सांस्कृतिक कारक – प्रत्येक समाज में भिन्न–भिन्न कारकों को महत्व दिया जाता है। जिस प्रकार किसी समाज में धन को, किसी में वीरता तथा साहस को तथा किसी में राजनीतिक सत्ता को विशेष महत्व दिया जाता है। अतः जिस समाज में जिस कारक को अधिक महत्व दिया जाता है वही कारक अर्जित प्रस्थिति के निर्धारण में प्रमुख भूमिका निभाता है।

अतः स्पष्ट है कि सभी समाजों में व्यक्तियों की अर्जित एवं प्रदत्त प्रस्थितियों के निर्धारण में अनेक कारकों का योगदान रहता है।

2 बोध प्रश्न

सामाजिक प्रस्थिति के दो प्रकार प्रदत्त प्रस्थिति एंव अर्जित प्रस्थिति पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

.....
.....
.....
.....
.....

.....
.....
.....
.....
.....

6.4 भूमिका का अर्थ एव परिभाषा

भूमिका की अवधारणा का सर्वप्रथम प्रयोग मीड, न्यूकॉम्ब, मैरिनो एवं सरबिन आदि मनोवैज्ञानिकों द्वारा किया गया। भूमिका प्रस्थिति का गतिशील एवं व्यवहारिक पहलू है। प्रस्थितियों को धारण किया जाता है जबकि भूमिकाओं का निर्वहन किया जाता है। एक पद प्राप्त करने के पश्चात उस पद से संबंधित

कार्यों को करना भूमिका पालन कहलाता है। उदाहरण के लिए प्रधानमंत्री एक पद है तथा इस पद से संबंधित कर्तव्यों का पालन करना भूमिका है। ओल्सेन के अनुसार– "सामाजिक भूमिका कुछ प्रत्याशाओं और क्रियाओं की वह परस्पर संबंधित व्यवस्था है जिसे सामाजिक संगठन का सबसे आन्तरिक अंग कहा जा सकता है।" अर्थात सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था प्रस्थिति और भूमिका के संतुलन पर निर्भर होती है। व्यक्तियों से अपनी निर्धारित प्रस्थितियों के अनुरूप भूमिका पालन की अपेक्षा की जाती है।

फेयरचाइल्ड, के अनुसार, "भूमिका किसी भी व्यक्ति का समूह में वह अपेक्षित कार्य या व्यवहार है जो समूह या संस्कृति के द्वारा परिभाषित किया गया है।"

डेविस, के अनुसार, "भूमिका वह ढंग है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी स्थिति संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।"

ऑगबर्न तथा निमकॉफ, के अनुसार, ''भूमिका एक समूह में एक विशिष्ट पद से संबंधित सामाजिक प्रत्याशाओं एवं व्यवहार प्रतिमान का एक योग है जिसमें कर्तव्यों एवं सुविधाओं दोनों का समाबेश होता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समाज में एक प्रस्थिति धारण करने के पश्चात् समाज जिस प्रकार के कार्य या व्यवहार को अपेक्षा व्यक्ति से करता है, वही भूमिका कहलाती है। एक व्यक्ति जितना अधिक अनुभवी व सक्षम होगा उतनी ही अधिक कुशलता से वह अपनी भूमिकाओं का निर्वाह कर पायेगा। समाज में कोई भी भूमिका एकपक्षीय नहीं होती है, प्रत्येक भूमिका का महत्व अन्य प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं के सन्दर्भ में ही होता है। **उदाहरण–** एक अध्यापक अपनी भूमिका छात्रों के संदर्भ में और एक डॉक्टर अपनी भूमिका रोगियों के संदर्भ में निभाता है। एक व्यक्ति अपने जीवनकाल में अनेक प्रस्थितियां प्राप्त करता है तथा उनके अनुरूप भूमिकाएं भी निभाता है। प्रत्येक प्रस्थिति से संबंधित एक विशिष्ट भूमिका होती है। यदि उसका निर्वाह उचित रूप से नही किया जाता है तो समाज में असंतुलन एंव विघटन पैदा होता है। अतः प्रस्थिति और भूमिका निर्वाह के बीच संतुलन होना आवश्यक है। प्रस्थिति और भूमिका एक ही सिक्के के दो पहलू है। दोनों का समाज में समान महत्व है।

भूमिका का संबंध प्रस्थिति से जुड़ा होता है। चूंकि प्रस्थितियां 'प्रदत्त' और 'अर्जित' प्रकार की होती है अतः भूमिकाएं भी 'प्रदत्त' और 'अर्जित' होती है। व्यक्ति समाज में अनेक भूमिकाएं निभाता है, किन्तु जिस भूमिका के कारण वह समाज में जाना जाता हैं, वह उसकी 'मुख्य भूमिका' (Key Role) कहलाती है। प्रत्येक भूमिका के साथ कुछ न कुछ अधिकार एवं सुविधाएं जुड़ी होती है।

पृथक–पृथक भूमिकाओं के निर्वहन हेतु पृथक–पृथक व्यवहार किया जाता है। भूमिका का निर्वहन व्यक्ति अपनी योग्यता, रूचि, क्षमता आदि के आधार पर करता है।

6.5 भूमिका से संबंधित अवधारणाएं

भूमिका पालन – समाज द्वारा निर्धारित प्रतिमानों के अनुरूप भूमिका निभाना भूमिका पालन कहलाता है। उदाहरण– पण्डित, पिता, पुत्र आदि।

भूमिका ग्रहण – इस प्रक्रिया के दौरान व्यक्ति विशिष्ट भूमिकाओं को निभाना सीखता है। उदाहरण– डॉक्टर बनने से पूर्व व्यक्ति डॉक्टर की भूमिका निभाना सीखता है।

अभिनय की भूमिका – इस प्रक्रिया में व्यक्ति किसी अन्य पात्र की भूमिका का अभिनय करता है। उदाहरण–कृष्णलीला में कृष्ण की भूमिका निभाना।

भूमिका वंचन – जब एक व्यक्ति एक प्रस्थिति को छोड़कर दूसरी प्रस्थिति को धारण करता है तो उसे पहले वाली प्रस्थिति से संबंधित भूमिका त्यागनी पड़ती हैं। इसे भूमिका वंचन कहते है। एक भूमिका को त्याग कर दूसरी भूमिका ग्रहण करने के बीच की स्थिति को भूमिका संक्रमण कहते है। उदाहरण के लिए बेटी की भूमिका को छोड़कर पत्नि बनने की भूमिका का निर्वाह करना भूमिका वंचन है।

असफल–भूमिका – जब एक व्यक्ति अपनी प्रस्थिति के अनुरूप भूमिका निभाने में असफल रहता है तो उसे श्असफल–भूमिकाश कहते है। उदाहरण–असफल वैवाहिक जीवन, पति अथवा पत्नि द्वारा अपनी भूमिका के निर्वहन में असफलता को प्रदर्शित करता है।

भूमिका प्रत्याशा – एक प्रस्थिति प्राप्त करने के पश्चात व्यक्ति से जिस प्रकार की भूमिका की अपेक्षा समाज द्वारा की जाती है, उसे भूमिका प्रत्याशा कहते है। उदाहरण के लिए डॉक्टर बनने के पश्चात उससे समाज कल्याण की अपेक्षा करना भूमिका प्रत्याशा है।

भूमिका संघर्ष – कई बार एक व्यक्ति को दो भिन्न प्रस्थितियों की भूमिका एक साथ निभानी होती है और यदि उनमें विरोधाभास है तो उसे भूमिका संघर्ष कहते है। उदाहरण– जज का बेटा यदि अपराध करते हुए पकड़ा जाता है तो जज के समक्ष यह उलझन आ जायेगी कि वह पिता के रूप में दया करके उसे छोड़ दे या जज के रूप में उसे दण्ड दे। भूमिका संघर्ष की यह स्थिति तनाव पैदा करती है। आधुनिक समाजों में भूमिका संघर्ष की स्थिति अधिक देखने को मिलती है।

6.6 मर्टन का भूमिका एवं प्रस्थिति से संबंधित अवधारणाएं

1. **भूमिका प्रतिमान** – एक व्यक्ति एक समय में एक से अधिक भूमिकाओं का निर्वहन करता है। जब एक व्यक्ति अपनी प्रस्थिति से संबंधित विभिन्न प्रस्थितियों को धारण करने वाले व्यक्तियों के साथ अलग–अलग प्रकार की भूमिकाएं निभाता है तो उन्हें सम्पूर्णता में भूमिका प्रतिमान कहते है। उदाहरण के लिए एक वकील, वकील होने के नाते अन्य वकीलों से, जजों से भिन्न–भिन्न प्रकार की भूमिका निभाता है।

2. **प्रस्थिति प्रतिमान** – एक व्यक्ति अपने सम्पूर्ण जीवनकाल में अनेक प्रस्थितियों को धारण करता है तथा उनके अनुसार भिन्न–भिन्न भूमिकाओं का पालन भी करता है। प्रस्थितियों की इन सम्पूर्णता को ही प्रस्थिति प्रतिमान कहते है। **उदाहरण–** एक व्यक्ति पति, पिता, भाई, जीजा, नेता आदि को प्रस्थितियाँ एक साथ धारण करता है तथा ये सभी प्रस्थितियां मिलकर उस व्यक्ति की प्रस्थिति प्रतिमान कहलायेंगी।

3. **प्रस्थिति श्रृंखला** – व्यक्ति एक समय में कई प्रस्थितियां धारण नहीं करता वरन् अलग–अलग समय में अलग–अलग प्रस्थितियां धारण

करता है जिससे प्रस्थितियों की एक श्रृंखला बन जाती है। उसे ही हम प्रस्थिति श्रृंखला कहते है। उदाहरण के लिए व्यक्ति पहले कुंवारा होता है फिर पति, पिता, दादा तथा परदादा आदि प्रस्थितियां ग्रहण करता है। इन सबसे मिलकर प्रस्थिति श्रृंखला का निर्माण होता है। उपरोक्त तीनो अवधारणाओं को चित्र द्वारा निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है–

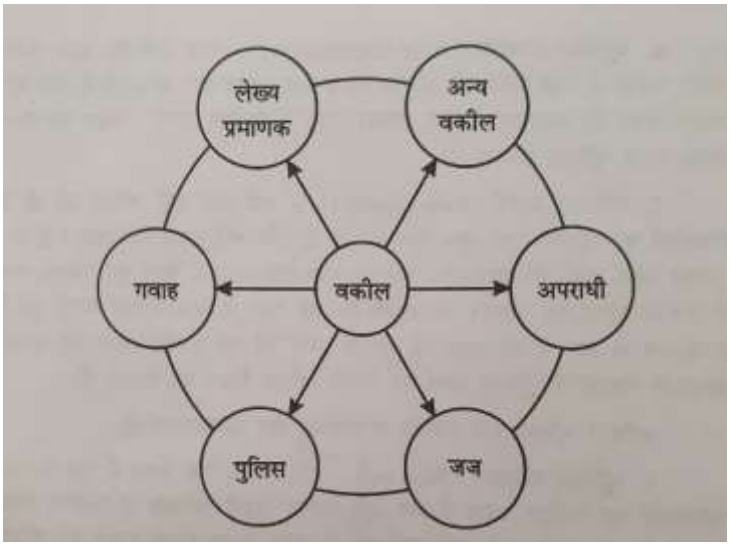

चित्र–1 : एक वकील का भूमिका प्रतिमान

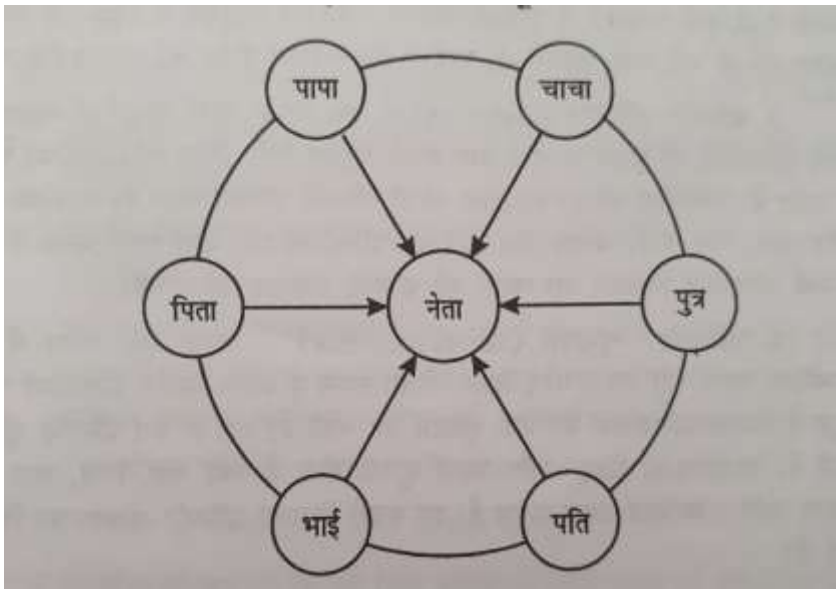

चित्र–2 : एक नेता का प्रस्थिति प्रतिमान

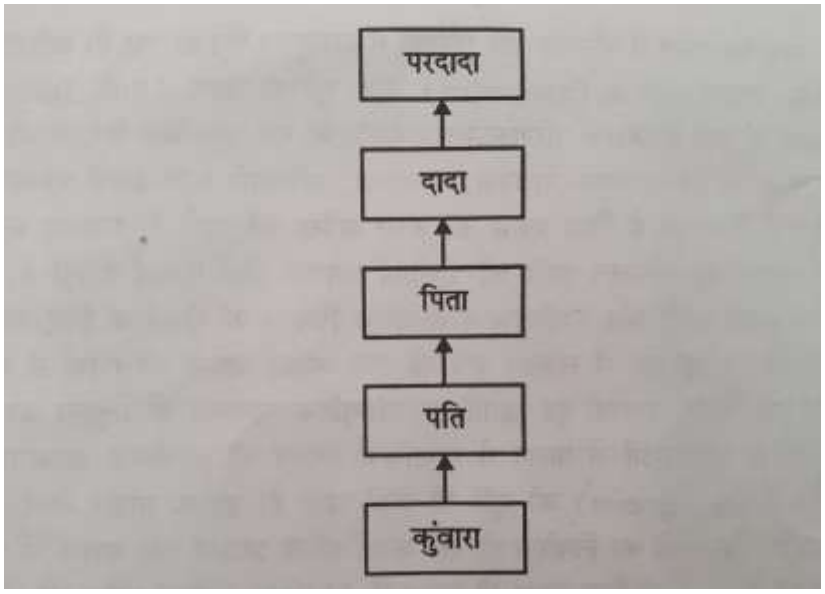

चित्र–3 : एक व्यक्ति की प्रस्थिति शृंखला

बोध प्रश्न 3

1. भूमिका किसे कहते है?

.....

.....

.....

.....

6.7 प्रस्थिति और भूमिका का समाजशास्त्रीय महत्व

- समाज में व्यवस्था एवं संतुलन बनाये रखने के लिए प्रस्थिति व भूमिका दोनों में तालमेल होना आवश्यक है।
- प्रस्थिति व भूमिका समाज में श्रम–विभाजन करके सामाजिक कार्यो को सरल बना देती है।
- प्रस्थिति एवं भूमिका सामाजिक नियंत्रण में भी योग देती है क्योंकि प्रत्येक प्रस्थिति एवं भूमिका से संबंधित सामाजिक प्रतिमान एवं नियम होते है और व्यक्ति से उनके अनुरूप आचरण करने की अपेक्षा की जाती है। हॉरालाम्बॉस के अनुसार– "सामाजिक भूमिकाएं व्यवहार को नियमित एवं संगठित करती है।"
- ये व्यक्ति के समाजीकरण में भी योगदान देते है।
- ये व्यक्ति को बताते है कि उसे किस प्रस्थिति में किसी प्रकार की भूमिका का निर्वाह करना है।
- इसमें व्यक्ति के व्यवहारों का पूर्वानुमान लगाया जा सकता है क्योंकि प्रत्येक प्रस्थिति के साथ उसके व्यवहार करने के तरीके पूर्वनिर्धारित होते है।

6.8 सारांश

प्रत्येक समाज अपने सदस्यों के लिए कुछ प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं का निर्धारण ही नहीं करता बल्कि प्रथाओं ओर कानूनों के माध्यम से भूमिकाओं का निर्वाह करने के लिए बाध्य भी करता है। सामाजिक भूमिका व्यक्ति की क्रियाओं का पथ–प्रदर्शन करती है। प्रत्येक प्रस्थिति की भूमिका पूर्व निर्धारित होने से व्यक्ति को अपनी भूमिकाओं के प्रति किसी प्रकार की आशंका भी नहीं रहती।

आधुनिक काल में प्रस्थिति और भूमिका में असंतुलन पैदा हो गया है। वर्तमान समय में भूमिका–प्रत्याशा (Role Expectation) एवं भूमिका–ग्रहण (Role Taking) में काफी अंतर आ गया है जिसके परिणामस्वरूप वैयक्तिक एवं सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न होने लगती है। उदाहरण– राजनेता, अध्यापक, अधिकारी आदि अपनी भूमिकाएं उस प्रकार से नहीं निभा रहे है जिस प्रकार की उनसे अपेक्षा की जाती है। इसलिए समाज में भ्रष्टाचार, तोड़फोड़, आंदोलन आदि की प्रवृतियां बलवती होती दिखाई दे रही है। समाज में व्यवस्था बनाये रखने और वैयक्तिक व सामाजिक विघटन को रोकने के लिए आवश्यक है

कि प्रस्थिति व भूमिका में संतुलन बना रहे तथा व्यक्ति अपनी प्रस्थितियों से संबंधित भूमिकाओं का निर्वाह बदलती हुई सामाजिक–सांस्कृतिक व्यवस्था के अनुरूप करता रहे। इसके अतिरिक्त भूमिकाओं के पालन से सामाजिक संगठन की कार्यात्मक आवश्यकताओं (functional requirements), की पूर्ति भी होती रहती है।

6.9 बोध प्रश्नो के उत्तर

1 बोध प्रश्न

क्रम संख्या 6.2 देखें

2 बोध प्रश्न

क्रम संख्या 6.3 देखें

3 बोध प्रश्न

क्रम संख्या 6.4 देखें

6.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Ogburn and Nimkoff, A Handbook of Sociology, p. 208
2. Lapiere, A Theory of Social Control, p. 71
3. Linton, The Cultural Background of Personality, p. 264
4. Robert Bierstedt, The Social Order, p.126
5. M.E. Olsen, Process of Social Organization, p. 107.
6. H.P. Fairchild, Dictionary of Sociology, p. 262
7. Kingsley Davis, Human Society, p. 75
8. Ogburn Nimkoff, Sociology, pp. 153-154
9. M. Haralambos, Sociology: Themes and Perspectives, p. 8

इकाई– 7 सामाजिक समूह

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 सामाजिक समूह का अर्थ एंव परिभाषा

7.3 सामाजिक समूह की विशेषताए

7.4 सामाजिक समूहों का वर्गीकरण

7.5 प्राथमिक समूह

7.6 प्राथमिक समूह की विशेषताएं

7.7 प्राथमिक समूहों का महत्व

7.8 द्वैतीयक समूह

7.9 द्वैतीयक समूहों की विशेषताएं

7.10 द्वैतीयक समूहों का महत्व

7.11 आभासी प्राथमिक समूह

7.12 आभासी प्राथमिक समूह एवं प्राथमिक

7.13 प्राथमिक समूहों एवं द्वैतीयक समूहों में अंतर

7.14 संदर्भ समूह

7.15 अनौपचारिक और औपचारिक संदर्भ समूह

7.16 संदर्भ समूह की विशेषताएं

7.17 सारांश

7.18 बोध प्रश्नो के उत्तर

7.19 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

7.0 उद्देश्य

इस इकाई में समूह के निर्माण के लिए आवश्यक दशाओं एवं प्रकारों का उल्लेख किया गया है। जब कभी दो या दो से अधिक व्यक्ति एक साथ मिलते है और एक दूसरे पर प्रभाव डालते है तो वे एक समूह का निर्माण करते है।

- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान सकेंगे
- सामाजिक समूह का अर्थ एवं परिभाषाएँ को जान सकेगे।
- सामाजिक समूह की विशेषताएँ एवं प्रकार को जान सकेगे।
- प्राथमिक समूह द्वैतीयक समूह व आभासी को जान सकेगे।
- आभासी प्राथमिक समूह एवं प्राथमिक समूह में अंतर को जान सकेगे।
- प्राथमिक समूहों एवं द्वैतीयक समूहों के अंतर को जान सकेगे।

7.1 प्रस्तावना

सामाजिक समूह का निर्माण व्यक्ति अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु करता है। जब दो या दो से अधिक व्यक्ति एक दूसरे के साथ अर्थपूर्ण अन्तक्रियाओं के द्वारा संबंध स्थापित करते है तो एक समूह का निर्माण होता है। इस भाग में हम सामाजिक समूह के अर्थ, विशेषताएँ एवं प्रकारों पर प्रकाश डालेंगे इसके साथ ही इसके प्रमुख प्रकार जैसे प्राथमिक, द्वैतीयक एवं आभासी प्राथमिक समूह का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

7.2 सामाजिक समूह का अर्थ एंव परिभाषा

मनुष्य अपने सम्पूर्ण जीवनकाल में न केवल विभिन्न समूहों में रहता है वरना समूहों का निर्माण भी करता है। समूह व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास में महत्वपूर्ण योगदान देते है। समूह सभी प्रकार के समाजों में पाये जाते है। समूहों के माध्यम से एक पीढी के विचारों तथा अनुभवों को दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित किया जाता है। समूह शब्द का प्रयोग कुछ व्यक्तियों के संगठन के लिये किया जाता है। समूहों के माध्यम से ही व्यक्ति का समाजीकरण होता है, भौतिक तथा सामाजिक पर्यावरणों के साथ वह समायोजन कर पाता है, उसकी सीखने की क्षमता का विकास होता है तथा विषम परिस्थितियों में भी वह घबराता नहीं। स्पष्ट है कि व्यक्ति के जीवन में समूह का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। व्यक्ति अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु विभिन्न समूहों की सदस्यता ग्रहण करता है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि "सामाजिक समूह एक प्रकार

का संगठन है जिसके सदस्य एक दूसरे को जानते है और वैयक्तिक रूप में एक दूसरे से अपनी एक रूपता स्थापित करते है।

परिभाषाएं - मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, "समूह से हमारा तात्पर्य व्यक्तियों के किसी भी ऐसे संग्रह से है जो एक–दूसरे के साथ सामाजिक संबंध स्थापित करते है।" अर्थात् पारस्परिक जागरूकता और सहयोग की भावना समाजिक संबंधों का आधार है।

ऑगबर्न एवं निमकॉफ के अनुसार, "जब कभी दो या दो से अधिक व्यक्ति एक साथ मिलते है और एक दूसरे पर प्रभाव डालते है तो वे एक समूह का निर्माण करते है।" अर्थात् व्यक्तियों का एक स्थान पर एकत्रित होना समूह का सूचक नहीं है जब तक कि वे, अपनी क्रियाओं द्वारा एक दूसरे को प्रभावित ना करे वे समूह का निर्माण नहीं कर सकते।

बोगार्डस के अनुसार, एक सामाजिक समूह दो या अधिक व्यक्तियों की एक ऐसी संस्था को कहते है जिनका ध्यान कुछ सामान्य उद्देश्यों पर हो और जो एक दूसरे को प्रेरणा दे, जिनमें भक्ति हो और जो सामान्य क्रियाओं में सम्मिलित हो।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि जब दो या दो से अधिक व्यक्ति पारस्परिक रूप से एक–दूसरे को प्रभावित करते है तथा किन्हीं सामान्य हितों के लिए एक दूसरे के साथ अर्थपूर्ण अन्तःक्रियाओं के द्वारा संबंध स्थापित करते है तो एक समूह का निर्माण होता है। अतः समूह कुछ व्यक्तियों का ऐसा संग्रह है जो सामाजिक अन्तः क्रियाओं द्वारा एक दूसरे को प्रभावित करते है तथा कुछ विशेष प्रतीकों के कारण एक–दूसरे के द्वारा पहचाने जाते है।

7.3 सामाजिक समूह की विशेषताएं

- **व्यक्तियों का संग्रह** (Collection of people) समूह के निर्माण के लिए दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सामाजिक संबंधों का होना आवश्यक है।
- **कार्य विभाजन** (Functional division) उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समूह का निर्माण किया जाता है जिसके कारण समूह के सदस्यों में कार्य विभाजन पाया जाता है।
- **सामान्य रूचि** (Common interest) जिन व्यक्तियों के हित एवं रूचि सामान्य होते है वे ही समूह की स्थापना करते है।

- **समूह में एकता** (Unity in group) समूह के सदस्यों में एकता एवं 'हम की भावना' होना आवश्यक है। इसके अभाव में समूह टूट जाता है।
- **ऐच्छिक सदस्यता** (Voluntary membership) व्यक्ति अपने हितों, आवश्यकताओं एवं रूचि को ध्यान में रखते हुए विभिन्न समूहों का सदस्य बनता है। उदाहरण परिवार, पड़ौस, क्लब आदि।
- **स्तरीकरण** (Stratification)समूह में सभी व्यक्तियों के पदों में उच्चता व निम्नता का क्रम पाया जाता है।
- **ढांचा** (Structure) प्रत्येक समूह की एक संरचना या ढांचा होता है। जिसमें उसके नियम, कार्य–प्रणाली, अधिकार, कर्तव्य आदि आते है।
- **सामाजिक संबंध** (Social Relation) समूहों में व्यक्तियों के बीच सामाजिक संबंधों का पाया जाना आवश्यक है।

बोध प्रश्न

1 सामाजिक समूह का अर्थ बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

7.4 सामाजिक समूहों का वर्गीकरण (Classification of social groups)

समाजशास्त्रयों ने विभिन्न आधारों पर बने मानव समूहों का वगीकरण प्रस्तुत किया है।

1 सदस्यों की संख्या के आधार पर

क्रम संख्या	छोटे समूह	बड़े समूह

1	जार्ज सिम्मेल, जॉनसन तथा होमन्स ने छोटे समूह को समाज का आधार माना	मैकाइवर तथा पेज ने राष्ट्र एवं प्रान्त जैसे बड़े समूहों का उल्लेख किया।

2 स्थायित्व के आधार पर			
स्थायी समूह		आभासी समूह	अस्थायी समूह
1	ये स्थिर समूहों की श्रेणी में आते है तथा सार्वभौमिक प्रकृति के होते है। उदा. परिवार, नातेदारी समूह आदि।	बोटोमोर ने इसका उल्लेख किया। इसके सदस्य समूह के अस्तित्व के प्रति कम जागरूक होते है। उदा. सामाजिक वर्ग, प्रस्थिति समूह आदि।	ये अस्थिर समूह है जो बहुत कम समय के लिए समूह के रूप में बने रहते है। उदा. भीड़ एवं श्रोता समूह।

समनर ने विभिन्न समूहों के बीच घनिष्ठता तथा सामाजिक दूरी की भावना को महत्व देते हुए सभी सामाजिक समूहों को दो भागों में विभाजित किया है।

2 सामाजिक समूह (हम की भावना के आधार पर वर्गीकरण)

क्रम संख्या	अन्तः समूह/हम समूह (In-Group/We Group)	बाह्य समूह/वे समूह (Out-Group/They Group)
1	इसमें वे सब लोग आते है जिन्हें हम अपना समझते है।अर्थात हम की भावना की अभिव्यक्ति होती है।	इसमें वे सब लोग आते है जिन्हें हम अपना नहीं समझते है। अर्थात विरोधपूर्ण भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है।
2	सदस्यों में परस्पर सहयोगी एवं मैत्रीपूर्ण व्यवहार पाया जाता है।	समूह के सदस्यों में परस्पर घृणा, द्वेष, भय तथा संदेह की भावनाएं पायी जाती है।
3	तुलनात्मक रूप से छोटा आकार।	तुलनात्मक रूप से बड़ा आकार।
4	सामान्य हित	हितों में संघर्ष
5	समूह के प्रति पक्षपातपूर्ण भावना। उदा. परिवार, कक्षा, जाति, गॉव, देश आदि।	सामाजिक दूरी की अभिव्यक्ति। उदा, राजनीतिक दलों, श्रमिकों संघों एवं राष्ट्रों में एक दूसरे के प्रति इस प्रकार की भावनाएं पायी जाती है।

3 प्रकार्यात्मक आधार पर

गिडिंग्स तथा गिलिन और गिलिन ने प्रकार्यात्मक आधार पर दो प्रकार बताय

क्रम संख्या	ऐच्छिक (Voluntary)	अनैच्छिक (Non-voluntary)
1	जिनकी सदस्यता व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करती है। उदा. क्लब, जिम आदि।	जिनकी सदस्यता पूर्व निर्धारित होती है, अर्थात व्यक्ति को सदस्य बनना ही पड़ता है। उदा, जाति, परिवार आदि।

सामाजिक समूह (सामाजिक संबंधों के आधार पर)

क्रम संख्या	प्राथमिक (Primary)	द्वैतीयक (Secondary)
1	चार्ल्स कूले ने प्राथमिक समूह की अवधारणा दी।	डेविस और होमान्स ने द्वैतीयक संबंधो के बारे में बताया।
2	.प्राथमिक सामाजिक संबंधों में घनिष्ठता अधिक होती है। उदा. –परिवार, पडौस, नातेदारी आदि।	इसमें घनिष्ठता कम होती है। उदा. स्कूल, कॉलेज आदि।

5 मैकाइवर और पेज द्वारा समूहों का वर्गीकरण

सामाजिक समूह			
क्रम संख्या	क्षेत्रीय समूह (Territorial unities)	हितों के प्रति चेतन समूह जिनका निश्चित संगठन नहीं होता है। (Interest conscious unities without definite organization)	हितों के प्रति चेतन समूह जिनका निश्चित संगठन होता है। (Interest conscious unities with definite organization)
1	सम्पूर्ण हितों से संबंधित क्षेत्र।	सदस्यों की समान मनोवृति।	हितों का सीमित क्षेत्र।
2	एक ही क्षेत्र में व्यवसाय। उदा. समुदाय, वन्यजाति, राष्ट्र, नगर, गाँव आदि।	पद, प्रतिष्ठा और अवसरों में अन्तर।	निश्चित सामाजिक संगठन। उदा. परिवार, पड़ौस, क्लब आदि।
3	.	अनिश्चित सामाजिक संगठन। उदा. जाति, भीड़, राष्ट्रीय समूह आदि।	.

6 आकांक्षा के आधार पर

मर्टन ने आकांक्षा के आधार पर संदर्भ समूह (**Reference Group**) की अवधारणा को प्रस्तुत किया। आपने उस समूह को संदर्भ समूह माना जिसका कोई व्यक्ति सदस्य तो नहीं है, परन्तु सदस्य बनने की आकांक्षा रखता हे। यह

आकांक्षा उसकी मनोवृत्तियों, मूल्यांकन तथा व्यवहार को प्रभावित करती है।

7.5 प्राथमिक समूह (PRIMARY GROUP)

अर्थ (MEANING)

अमरीकन समाजशास्त्री चार्ल्स कूले ने अपनी पुस्तक सोशियल आर्गनाइजेशन (Social Organization) में सन 1909 में 'प्राथमिक समूह की अवधारणा को प्रस्तुत किया। इस समूह के सदस्यों में आमने–सामने (face-to-face) के संबंध पाये जाते है। कूले ने मित्र, पड़ौसी, साथी, परिवार के समूहों को प्राथमिक इसलिए कहा क्योंकि महत्व एवं प्रभाव की दृष्टि से ये व्यक्ति के जीवन में प्राथमिक है। सामाजिक संबंधों की घनिष्ठता प्राथमिक समूहों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है। चार्ल्स कूले ने प्राथमिक समूहों को "मानव–स्वभाव की पोषिका (nursery of human nature) कहा है। कूले ने बताया कि प्राथमिक समूहों में आमने–सामने के घनिष्ठ संबंध और सहयोग की भावना पायी जाती है। यह व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति और आदशों का निर्माण करने में महत्वपूर्ण योगदान देते है।

कूले के अनुसार– "प्राथमिक समूहों से मेरा अभिप्राय उन समूहों से है जिनकी प्रमुख विशेषता आमने–सामने के घनिष्ठ सम्बन्ध और सहयोग की भावना है। ये समूह अनेक प्रकार से प्राथमिक है लेकिन प्रमुख रूप से इस अर्थ में कि यह व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति और आदशों का निर्माण करने में मौलिक है। मनोवैज्ञानिक रूप से इन घनिष्ठ संबंधों के फलस्वरूप सभी व्यक्तियों का एक सामान्य सम्पूर्णता में इस प्रकार मिल जाना है कि अनेक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक ही व्यक्ति के विचार और उद्देश्य सम्पूर्ण समूह का सामान्य जीवन और उद्देश्य बन जाता है। इस सम्पूर्णता की अभिव्यक्ति के लिए सम्भवतः सबसे सरल ढंग यह है कि इसे 'हम' शब्द द्वारा संबोधित किया जाय। इस सम्पूर्णता में इस प्रकार की सहानुभूति और पारस्परिक एकरूपता की भावना पायी जाती है जिसके लिए "हम एक स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। लेकिन फेरिस के अनुसार केवल आमने–सामने के संबंध होना ही प्राथमिक समूहों का एकमात्र आधार नहीं हो सकता है। उदाहरण के लिए न्यायालय में जज, गवाह, अपराधी आदि सभी आमने–सामने के संबंधों द्वारा अन्तःक्रिया करते है लेकिन पुलिस थाना या न्यायालय को प्राथमिक समूह नहीं कह सकते। इसके विपरीत रक्त संबंधी अथवा नातेदार एक दूसरे से दूरी के पश्चात भी उनमें पारस्परिक एक रूपता (mutual identification) की स्थिति बनी रहती है। अतरू यह कहा जा सकता है कि प्राथमिक समूहों में घनिष्ठता तथा हम की भावना से बँधकर की गयी अन्तःक्रिया महत्वपूर्ण होती है। कूले ने प्रारम्भ में परिवार, क्रीड़ा समूह और पड़ौस के लिए

'प्राथमिक समूह' शब्द का प्रयोग किया था। परिवार व्यक्ति के लिए सबसे महत्वपूर्ण इकाई है जिसमें उसका समाजीकरण होता है। इसके पश्चात क्रीडा समूह बच्चे के व्यक्तित्व के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करता है। इसके साथ ही व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करने में पडौस का महत्व प्राथमिक है। प्राथमिक समूह में भी संघर्ष की स्थिति पाई जाती है लेकिन वास्तविकता यह है कि इसमें कोई मतभेद स्थायी नहीं होते। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता कि जब कभी भी कुछ व्यक्ति घनिष्टता अथवा हम की भावना से बँधकर अन्तक्रिया करते है तथा समूह के हित के सामने निजी स्वाथों का बलिदान करने के लिए तैयार रहते है, तब ऐसे समूह को हम प्राथमिक समूह कहते है।

परिभाषाएं लुण्डबर्ग के अनुसार, "प्राथमिक समूह का तात्पर्य दो या दो से अधिक ऐसे व्यक्तियों से है जो घनिष्ठ, सहभागी और वैयक्तिक ढंग से एक–दूसरे से व्यवहार करते है। **बीरस्टीड** के अनुसार, "यह घनिष्ठता अथवा सामाजिक दूरी की मात्रा है, न कि शारीरिक दूरी जो कि प्राथमिक समूहों को निर्धारित करती है।"

7.6 प्राथमिक समूह की विशेषताए (Characteristics of primary group)

प्रो किंग्सले डेविस ने प्राथमिक समूह के निर्माण के लिए तीन दशाओं का उल्लेख किया:

1. शारीरिक समीपता (Physical Proximity) डेविस ने शारीरिक समीपता को महत्व दिया ताकि व्यक्तियों में घनिष्ठ संबंध स्थापित हो सके। शारीरिक समीपता प्राथमिक समूहों के निर्माण का अवसर प्रदान करती है। प्राथमिक समूह के सदस्य अच्छे एवं बुरे अवसरों पर एक दूसरे के निकट रहते है और इस निकटता के कारण उनमें घनिष्ठता बनी रहती है जो संबंधों को स्थायी बनाती है।

2. समूह की लघुता (Small size of the group) समूह का आकार जितना छोटा होगा, सदस्यों में उतनी ही अधिक मात्रा में निकटता एवं घनिष्ठता होगी। समूह का आकार छोटा होने से ही सदस्य एक–दूसरे को व्यक्तिगत रूप से जान सकते है।

3. संबंधों की अवधि (Duration of Relationship) संबंधों की अवधि जितनी अधिक होगी घनिष्ठता भी उसी अनुपात में बढ़ेगी। सामाजिक घनिष्ठता प्राथमिक समूहों के निर्माण के लिए अनिवार्य शर्त है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्राथमिक समूह के निर्माण के लिए शारीरिक समीपता, समूह का छोटा आकार तथा संबंधों की लम्बी अवधि का होना आवश्यक है। प्राथमिक समूहों को कूले ने मनुष्य का मानवीकरण करने वाला एक शक्तिशाली एजेण्ट कहा है क्योंकि प्राथमिक समूहों के सामान्य नियम व्यक्ति को नियंत्रित करते है।

7.7 प्राथमिक समूहों का महत्व (IMPORTANCE OF PRIMARY GROUP)

मैरिल ने प्राथमिक समूहों के महत्व को इनके द्वारा किये जाने वाले प्रमुख कार्यो के आधार पर समझाया –

- सुरक्षात्मक कार्य (Security work) प्राथमिक समूह नैतिक और भावनात्मक सुरक्षा प्रदान करने वाला वातावरण तैयार करता है जिससे व्यक्ति अपने को सुरक्षित महसूस कर सके।
- मनोरंजनात्मक कार्य (Recreational work) प्राथमिक समूह इस प्रकार के संगठनों का निर्माण करता है जो व्यक्ति को स्वस्थ मनोरंजन प्रदान कर सके।
- व्यक्तित्व का विकास (Personality development) प्राथमिक समूह का कार्य मित्रतापूर्ण वातावरण में व्यक्ति के व्यक्तित्व का उचित विकास करता है।
- संवहन का कार्य (Transmission) प्राथमिक समूहों में सभी सदस्य अपने विचारों को एक दूसरे तक पहुँचाते है जिससे संस्कृति को भी स्थिरता प्राप्त होती हे।

7.8 द्वैतीयक समूह (SECONDARY GROUP)

अर्थ (MEANING)

सभ्य और विकसित समाज में द्वैतीयक समूहों की प्रधानता रहती है। इनमें संबंधों में आत्मीयता एवं घनिष्ठता का अभाव पाया जाता है। ये समूह विशेष उद्देश्यों की पूर्ति हेतु बनाए जाते है। द्वैतीयक समूह के सदस्यों के संबंधों में स्थायीत्व एवं निरन्तरता का अभाव पाया जाता है। इन समूहों का आकार और क्षेत्र काफी विस्तृत होता है। स्कूल, कॉलेज, मजदूर संघ, राजनीतिक दल, एवं राष्ट्र आदि द्वैतीयक समूह के उदाहरण हे। द्वैतीयक समूह के सदस्यों के व्यवहार में औपचारिकता पायी जाती है। कूले ने अपनी पुस्तक 'Introductory

Sociology' में बताया कि ये वे समूह है जिनमें घनिष्टता, प्राथमिक तथा अर्ध प्राथमिक (quasi-primary) विशेषताओं का पूर्ण अभाव रहता है। प्राथमिक समूह के कारण ही द्वैतीयक समूह का विकास हो सका है। यह विकसित समाज की देन है। समाज की जटिलता के कारण द्वैतीयक समूह पनपे है, जार्ज सी. होमन्स तथा किंग्सले डेविस आदि ने इन पर प्रकाश डाला है।

परिभाषाएं

प्रो. डेविस के अनुसार, द्वैतीयक समूहों को स्थूल रूप से सभी प्राथमिक समूहों के विपरीत कहकर पारिभाषित किया जा सकता है।" **बीरस्टीड** के अनुसार, ''वे सभी समूह द्वैतीयक है जो प्राथमिक नहीं है।'' **ऑगबर्न एवं निमकॉफ** के अनुसार, द्वैतीयक समूह उन्हें कहते हैं जिनमें प्राप्त अनुभवों में घनिष्ठता का अभाव होता है। आकस्मिक सम्पर्क ही द्वैतीयक समूह का सारतत्व है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि द्वैतीयक समूह के सदस्यों में अवैयक्तिक संबंध पाये जाते है। व्यक्तिगत रूप से सदस्यों को जानना एवं शारीरिक निकटता अनिवार्य नहीं है। ये संबंध अनौपचारिक प्रकार के, जीवन के किसी एक पक्ष से संबंधित, अस्थायी प्रकार के, विशेष हितों पर आधारित और हस्तान्तरणीय होते है। वर्तमान युग में जैसे–जैसे समाज जटिल होता जा रहा है, द्वैतीयक समूहों तथा द्वैतीयक संबंधों की मात्रा में भी निरन्तर वृद्धि होती जा रही है।

7.9 द्वैतीयक समूहों की विशेषताएं (CHARACTERISTICS OF SECONDARY GROUP)

- इन समूहों का निर्माण जान–बूझकर कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए होता है। इनसे सामान्य तथा विशेष दोनों प्रकार के उद्देश्यों की पूर्ति होती है।
- इन समूहों में व्यक्तिगत सम्पर्क आवश्यक नहीं है, संचार के साधनों द्वारा भी सदस्यों के बीच संबंध स्थापित होते है।
- प्राथमिक समूहों की तुलना में इनका आकार बड़ा होता है। ये समूह व्यक्ति के व्यक्तित्व के किसी एक पक्ष को ही प्रभावित कर पाते है।
- सदस्यों के बीच संबंधो में औपचारिकता पायी जाती है। ये समूह अप्रत्यक्ष संबंधों पर आधारित होते है जिनकी स्थापना में रेडियों, टेलीफोन, प्रेस आदि महत्वपूर्ण माध्यम है।
- संबंधों में घनिष्ठता का अभाव पाया जाता है। इन समूहों का निर्माण सदस्यों की विशिष्ट आवश्यकताओं के आधार पर होता है। अतः इनका

स्वतः विकास नहीं होता। आवश्यकताओं के बदलने के साथ ही समूहों की प्रकृति में भी परिवर्तन आ जाता है।

7.10 द्वैतीयक समूहों का महत्व (IMPORTANCE OF SECONDARY GROUP)

प्रारम्भ में यह समझा जाता था कि द्वैतीयक समूहों की अपेक्षा प्राथमिक समूहों का महत्व अधिक है लेकिन औद्योगिकीकरण, नगरीकरण, भूमंडलीकरण आदि के कारण समाज में वृहत मात्रा में परिवर्तन हुए है अतः वर्तमान युग की अनेक आवश्यकताओं को द्रैतीयक समूहों द्वारा पूरा किया जाता है। व्यक्ति मात्र प्राथमिक समूहों का सदस्य रहकर जीवन के विभिन क्षेत्रों में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता उसे अपनी बदलती हुई परिस्थितियों से अनुकूलन करने और विभिन क्षेत्रों में सफलता प्राप्त करने हेतु द्वैतीयक समूहों की सदस्यता ग्रहण करना अनिवार्य हो गया है। अतः द्वैतीयक समूहों के महत्व को निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत समझा जा सकता है–

1. प्रगति में सहायक – प्राथमिक समूह परिवर्तन पर रोक लगाकर सामाजिक प्रगति में बाधा उत्पन्न करते है लेकिन द्वैतीयक समूह प्रथाओं, परम्पराओं, रूढ़ियों आदि के प्रभाव को कम करके व्यक्ति को भविष्य के प्रति आशावान बनाकर परिवर्तन को प्रोत्साहन देते है। परिवर्तन हानिकारक हो सकता है लेकिन परिवर्तन प्रकृति का नियम है और खतरा उठाये बिना प्रगति की संभावना किस प्रकार की जा सकती है? इस प्रकार के समूह नये व्यवहारों को ग्रहण करने की प्रेरणा देते है।

2. तर्क को महत्त्व – द्वैतीयक समूहों में परम्पराओं, प्रथाओं को महत्व न देकर विवेक और तर्क को अधिक महत्व दिया जाता है। व्यक्ति इन समूहों में रहकर अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो जाता है जिससे वह प्राचीन कुप्रथाओं के प्रति आवाज उठा पाता है उदा. स्त्रियों की उच्च प्रस्थिति।

3. श्रम–विभाजन और विशेषीकरण – व्यक्ति द्वैतीयक समूहों में रहकर ही किसी एक क्षेत्र में विशेषज्ञता प्राप्त कर पाता है। वर्तमान समय में श्रम–विभाजन और विशेषीकरण का विशेष महत्व है। इन समूहों की स्वंय की प्रकृति विशेषीकृत होती है अतः व्यक्ति विशेषीकरण की योग्यता द्वैतीयक समूहो से प्राप्त करता है।

4. आवश्यकताओं की पूर्ति – वर्तमान समय में व्यक्ति की अधिकांश आवश्यकताओं की पूर्ति केवल द्वैतीयक समूहों में रहकर ही संभव है। आवश्यकताओं में विविधता ने द्वैतीयक समूहों के महत्व को बढ़ा दिया है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राथमिक समूहों के साथ–साथ द्वैतीयक समूहों का भी बहुत अधिक महत्व है। वर्तमान युग में एक ही स्थान पर अनेक धर्मों, भाषाओं, जातियों और वर्गो के लोग साथ–साथ रहते है उनकी प्रथाएँ व परम्परायें अलग–अलग होती है। ऐसी स्थिति में ट्वैतीयक समूह विविध आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सहायता प्रदान करता है। अतः द्वैतीयक समूहों के अभाव में प्रगति एवं विकास की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह एक वृहत दृष्टिकोण प्रदान करने में सहायता करते है।

7.10 आभासी प्राथमिक समूह (QUASI PRIMARY GROUPS)

चार्ल्स कूले ने प्राथमिक समूह के अतिरिक्त 'आभासी प्राथमिक समूह' अथवा 'अर्द्ध प्राथमिक समूह' का भी उल्लेख किया है। यह समूह अपनी विशेषताओं से प्राथमिक समूहों के निकट प्रतीत होते है इसलिए इन्हे अर्द्ध प्राथमिक समूह कहा जाता है। समूह के सदस्यों को संख्या और संबंधों की घनिष्ठता के आधार पर ये प्राथमिक समूहों के बिल्कुल समान होते है। आभासी प्राथमिक समूहों का निर्माण कुछ विशेष उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु जानबूझकर, घनिष्ठ तथा आमने–सामने के संबंधों के आधार पर किया जाता है। ये संगठन वास्तविक प्रतीत होता है लेकिन वास्तविकता में वह कृत्रिम होता है। कुले के अनुसार– आभासी प्राथमिक समूह आमने–सामने के संबंधों द्वारा संगठित वे समूह है जो अपनी संगठन संबंधी विशेषताओं और विशेष उद्देश्यों के कारण सीमित आकार के होते है। सामाजिक वर्ग, क्लब, स्काउट आदि को आभासी प्राथमिक समूहों के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इन सभी समूहों का निर्माण कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति हेतु जान–बूझकर किया जाता है। इन समूहों की सदस्य संख्या सीमित होती है तथा उनमें घनिष्ठ संबंध पाये जाते है।

बोध प्रश्न 2

आभासी समूह का क्या अर्थ है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

7.11 आभासी प्राथमिक समूह एवं प्राथमिक समूह में अंतर (Difference Between Quasi Primary Group and Primary Group)

क्र0सं0	प्राथमिक समूह	आभासी प्राथमिक समूह
1	हमारी सभी क्रियाओं को प्रभावित करते है।	कुछ विशेष प्रकार के उद्देश्यों एवं व्यवहारों से संबंधित होते है।
2	एकीकरण की भावना पायी जाती है।	एकीकरण की भावना समूह की सदस्यता के साथ ही समाप्त हो जाती है।
3	.आकार में बहुत छोटे होते है।	आकार में तुलनात्मक रूप से प्राथमिक समूहों से बड़े व द्वैतीयक समूहों से छोटे होते है।
4	निर्माण स्वतः. होता है।	विशेष उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु जानबूझकर निर्माण किया जाता है।
5	अधिक स्थायी होते है क्योंकि इनका आधार समाज के आदर्श नियम है।	तुलनात्मक रूप से कम स्थायी।

समूहों का प्रत्येक वर्गीकरण किसी न किसी सिद्धान्त पर आधारित है। वर्गीकरण केवल रूप (form) के भेद पर आधारित है, अन्तर्वस्तु (content)के भेद पर नहीं। किसी भी सामाजिक व्यवस्था की संरचना को समझने के लिए समूहों का वर्गीकरण करना और उनका तुलनात्मक अध्ययन करना आवश्यक है। समूहों के आधार पर समाज के संरचनात्मक पक्ष को समझा जा सकता है। सभी समाज वैज्ञानिकों ने सामाजिक समूहों

को अलग–अलग नाम से संबोधित किया है। कूले ने इन्हें प्राथमिक और द्वैतीयक समूह, सोरोकिन ने क्रमशः सुपरिचित (Familistic) और संविदात्मक (contractual) समूह कहा है। जर्मन समाजशास्त्री टानीज ने इन्हीं समूहों को क्रमशः जेमिनशाफ्ट (gemeinschaft) और जैसेलशाफ्ट (gesellschaft) कहा है। अर्थात समाज में पाये जाने वाले समूहों की प्रकृति और महत्व अलग–अलग

होता है।

7.12 प्राथमिक समूहों एवं द्वैतीयक समूहों में अंतर (Difference Between Primary and Secondary Group)

क्र0सं0	प्राथमिक समूह	द्वैतीयक समूह
1	आकार छोटा होता है।	आकार बड़ा होता है।
2	सदस्यों की संख्या कम होती है। उदा. परिवार, पड़ोस, नातेदारी आदि।	सदस्यों की संख्या अधिक होती है। उदा. स्कूल, कॉलेज आदि।
3	सदस्यों में शारीरिक समीपता पायी जाती है।	शारीरिक समीपता हो भी सकती है और नहीं भी।
4	स्थायी संबंध पाये जाते है।	अस्थायी संबंध होते है।
5	संबंध अनौपचारिक होते है।	औपचारिक संबंध होते है।
6	संबंध स्वतः निर्मित होते है।	संबंध जान–बूझकर बनाये जाते है।
7	संबंध स्वयं साध्य होते है।	स्वयं साध्य नहीं होते।
8	संबंधों में घनिष्ठता पायी जाती है।	संबंधों में घनिष्ठता का अभाव होता है।
9	ये सरल, ग्रामीण एवं आदिम समाजों में अधिक पाये जाते है।	ये जटिल, नगरीय एवं आधुनिक समाजों की विशेषता है।
10	सदस्यता अनिवार्य है।	सदस्यता अनिवार्य नहीं है।
11	इनमें हम की भावना पायी जाती है।	हम की भावना का अभाव होता है।
12	आमने–सामने के संबंध पाये जाते है।	अप्रत्यक्ष संबंध पाये जाते है।
13	सामूहिकता को जन्म देते है।	व्यक्तिवाद को जन्म देते है।
14	इनका आधार नैतिकता तथा परम्परागत है।	इनका आधार कानून एवं संविधान नियम है ।
15	प्राथमिक समूह में कोई द्वैतीयक समूह नहीं होते।	एक द्वैतीयक समूह में कई प्राथमिक समूह हो सकते है।

यद्यपि प्राथमिक एवं द्वैतीयक समूहों में अन्तर उपरोक्त तालिका में स्पष्ट किये गये है लेकिन वर्तमान समय में किसी भी समूह का रूप विशुद्ध नहीं रह गया है। प्राथमिक समूह भी धीरे–धीरे औपचारिक व विशेषीकृत होते जा रहे है और

द्वैतीयक समूहों में भी स्थायीत्व का महत्व बढ़ता जा रहा है।

बोध प्रश्न 3

1 प्राथमिक एवं द्वैतीयक समूहों में चार अन्तर स्पष्ट कीजिए।

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

7.13 संदर्भ समूह (Reference group)

समाजशास्त्री ऐसे समूहों के लिए 'संदर्भ समूह' शब्द का उपयोग करते हैं जो व्यक्ति अपने और अपने स्वयं के व्यवहार के मूल्यांकन के लिए एक मानक के रूप में उपयोग करते हैं। ये ऐसे समूह हैं जिनकी हम मनोवैज्ञानिक रूप से पहचान करते हैं जिनके साथ हम संबंध रखते हैं और हो सकते हैं लेकिन हम चाहते हैं कि वे संबंधित हों। लोगों को वास्तव में उस समूह के सदस्य होने की आवश्यकता नहीं है जिसके लिए वे संदर्भित करते हैं। मुस्तफा शेरिफ (1953) ने संदर्भ समूहों को उन समूहों के रूप में परिभाषित किया, जिनके लिए व्यक्ति खुद को एक भाग के रूप में या जिस से वह मनोवैज्ञानिक रूप से खुद को संबंधित करना चाहता है के रूप में संबंधित है। यह परिभाषा स्पष्ट रूप से इंगित करती है की संदर्भ समूह वे है जिनके साथ एक व्यक्ति की पहचान होती है, चाहे वह उनका है या नहीं। ये ऐसे समूह हैं जिनके मूल्य, मानक और विश्वास व्यक्ति को अपने कार्यों को करने और खुद का मूल्यांकन करने में मार्गदर्शन करते हैं।

संदर्भ समूह शब्द को हर्बर्ट हाइमन द्वारा आर्काइव्स ऑफ़ साइकोलॉजी (1942) में गढ़ा गया था, जिसमें उस व्यक्ति का मूल्यांकन किया गया था, जिसके खिलाफ व्यक्ति अपनी स्थिति या आचरण का मूल्यांकन करता है। हाइमन एक सदस्यता समूह के बीच प्रतिष्ठित था जिसके लोग वास्तव में सदस्य हैं, और एक संदर्भ समूह जो तुलना और मूल्यांकन के आधार के रूप में उपयोग किया जाता है। एक संदर्भ समूह एक सदस्यता समूह हो सकता है या नहीं भी हो

सकता है। बाद में रॉबर्ट मर्टन और ऐलिस किट (1950) ने इस अवधारणा को परिष्कृत किया और इसे एक कार्यात्मक रूप प्रदान किया। उनके काम को सैमुअल स्टॉफ़र ने आगे बढ़ाया व अमेरिकन सोल्जर (1949) पुस्तक में सापेक्ष अभाव की अवधारणा विकसित की।

7.14 अनौपचारिक और औपचारिक संदर्भ समूह (informal and formal reference groups)

अनौपचारिक संदर्भ समूह – समाजशास्त्र में संदर्भ समूहों का सबसे सामान्य रूप, ऐसे सामाजिक समूह हैं जिनसे कोई व्यक्ति बिना किसी नियम या संरचना के, आकस्मिक रूप से जुड़ा होता है। ये अक्सर परिस्थितियों या सामान्य हितों पर निर्मित होते हैं जिनमें सदस्यों का घनिष्ठ संबंध होता है। सबसे महत्वपूर्ण अनौपचारिक संदर्भ समूह किसी व्यक्ति का अपना परिवार है। अनौपचारिक संदर्भ समूह के अन्य उदाहरण हैंः मित्र (या सहकर्मी) समूह, पड़ोस के सामाजिक समूह, किसी कक्षा, स्कूल या छात्रावास में छात्र।

औपचारिक संदर्भ समूह– वे समूह हैं जिनसे कोई व्यक्ति संबंधित होता है और जिनके सदस्यों के लिए सख्त नियम और कानून होते हैं। ये संदर्भ समूह अनायास नहीं बनते बल्कि जानबूझकर और लक्ष्य–उन्मुख होते हैं। औपचारिक समूहों के उदाहरण हैं : श्रम संघ, बागवानी क्लब, धार्मिक संगठन, कार्यस्थल सहकर्मी ।

इनमें से किसी भी प्रकार के समूह (चाहे औपचारिक या अनौपचारिक) का सदस्य होना किसी व्यक्ति के व्यवहार, दृष्टिकोण और विश्वास को प्रभावित कर सकता है क्योंकि व्यक्ति समूह में स्वीकृति बनाए रखने और उसी समूह के सदस्यों से जानकारी प्राप्त करने का प्रयास करता है।

7.15 संदर्भ समूह की विशेषताए (Characteristics of reference group)

समाजीकरण का एक माध्यम : संदर्भ समूह व्यक्ति को समाजीकरण के माध्यम से समाज के साथ जोड़ता है। यह उसे समाज की मान्यताओं, मूल्यों, और संस्कृति की समझ प्रदान करता है। संदर्भ समूहों के कुछ उदाहरण हैं– अनौपचारिक संदर्भ समूह सहकर्मी समूह, परिवार और पड़ोसी हैं। औपचारिक संदर्भ समूह बागवानी क्लब, राजनीतिक दल और श्रमिक संघ हैं। जब भी कोई व्यक्ति किसी समूह का हिस्सा बनना चाहता है, तो यह एक आकांक्षी संदर्भ समूह का एक उदाहरण है।

व्यक्तिगत विकास का मार्गदर्शन : संदर्भ समूह व्यक्ति के व्यक्तिगत विकास को प्रभावित करता है। यह उसे अपने मान्यताओं, आदर्शों, और उद्देश्यों के प्रति संवेदनशील बनाता है और सही और सहयोगी कार्यवाही करने के लिए मार्गदर्शन प्रदान करता है।

व्यक्तिगत पहचान का निर्माण : संदर्भ समूह व्यक्ति को उसकी पहचान का निर्माण करने में मदद करता है। यह उसे एक समाज में स्थान और महत्व प्रदान करता है और उसे स्वीकारता के अनुरूप आचरण करने के लिए प्रेरित करता है।

संक्षेप में, संदर्भ समूह सामाजिक अध्ययन में एक महत्वपूर्ण अवधारणा है, जो व्यक्ति के सामाजिकीकरण और व्यक्तिगत विकास को समझने में मदद करती है।

बोध प्रश्न 4

1 संदर्भ समूह की अवधारणा को स्पष्ट कीजिये

.....

.....

.....

.....

.....

7.16 सारांश Summary

जब दो या दो से अधिक व्यक्ति पारस्परिक रूप से एक–दूसरे को प्रभावित करते है तथा किन्हीं सामान्य हितों के लिए एक दूसरे के साथ अर्थपूर्ण अन्तक्रियाओं के द्वारा संबंध स्थापित करते है तो समूह का निर्माण होता है। अतः समूह कुछ व्यक्तियों का ऐसा संग्रह है जो सामाजिक अन्तः क्रियाओं द्वारा एक दूसरे को प्रभावित करते है तथा कुछ विशेष प्रतीकों के कारण एक–दूसरे के द्वारा पहचाने जाते है। समूहों के माध्यम से ही व्यक्ति का समाजीकरण होता है।

7.17 बोध प्रश्नो के उत्तर

बोध प्रश्न 1 का 7.2 देखे

बोध प्रश्न 2 का 7.10 देखे

बोध प्रश्न 3 का 7.13 देखे

बोध प्रश्न 4 का 7.14 देखे

7.18 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- Olsen, The Processes of Social Organization, p. 89
- Maclver and Page, Society, p. 213
- Ogburn & Nimkoff, A Handbook of Sociology p. 172
- Bogardus, Sociology, p.6.
- W.G. Sumner, Folkways
- Gillin and Gillin, Cultural Sociology
- Robert K. Merton, Social Theory and Social Structure, p. 233
- C.H.Cooley, Social Organization, quoted in the article, "The primary groups, Essence and Accident by Faris in American Journal of sociology.
- Elsworth Faris, The Primary Group: Essence and Accident, American Journal of Sociology,7. Vol-38, July (1932), PP: 41-50
- Lundberg, Sociology, p. 764
- Robert Bierstedt, The Social Order, p. 260
- Kingsley Davis, Human Society, p. 253
- F E. Merrill, Society and Culture, p. 27
- Kingsley Davis, Human Society, p.301
- Robert Bierstedt, The social Order, p. 306
- Ogburn & Nimkoff, A Handbook of Sociology

इकाई–8– सामाजिक नियंत्रण एवं इसके प्रकार

इकाई की रूरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 सामाजिक नियंत्रण का अर्थ एवं परिभाषाए

8.3 सामाजिक नियंत्रण का महत्व

8.4 सामाजिक नियंत्रण के प्रकार

8.5 औपचारिक सामाजिक नियंत्रण

8.6 औपचारिक सामाजिक नियंत्रण के साधन

8.7 अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण

8.8 औपचारिक तथा अनौपचारिक नियंत्रण में अंतर

8.9 सामाजिक नियंत्रण के सिद्धान्त

8.10 सामाजिक नियंत्रण के अभिकरण तथा साधन

8.11 सारांश

8.12 बोध प्रश्नो के उत्तर

8.0 उद्देश्य

इस इकाई में समाज में व्यवस्था बनाये रखने तथा व्यक्तियों के व्यवहारों को नियंत्रित रखने के लिए आवश्यक कुछ नियमों तथा कार्य करने के तरीकों का उल्लेख किया गया है। संक्षेप में, नियंत्रण की इस व्यवस्था को ही सामाजिक नियंत्रण कहते है। किसी भी समाज में व्यवस्था में एकता एवं स्थायित्व बनाए रखने के लिए आवश्यक है की मानव व्यवहार को नियंत्रित किया जाये

इस इकाई के अध्ययन के बाद जान सकेंगे

- सामाजिक नियंत्रण का अर्थ एवं परिभाषाएं
- सामाजिक नियंत्रण का महत्व एवं प्रकार (औचारिक एवं अनौचारिक नियंत्रण)

- सामाजिक नियंत्रण के सिद्धान्त (रॉस, हरबर्ट स्पेन्सर, कूले, दुर्खीम, तथा पारसन्स का सिद्धान्त)
- सामाजिक नियंत्रण के अभिकरण तथा साधन

8.1 प्रस्तावना

सामाजिक नियंत्रण का अर्थ समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था का नियंत्रण (regulation) करना है। सामाजिक विकास के विभिन्न सोपानों में सामाजिक नियंत्रण का अर्थ भिन्न–भिन्न रहा है फिर भी इसका एकमात्र उद्देश्य समाज में व्यवस्था बनाये रखना था। प्रत्येक समाज यह अपेक्षा करता है कि उसके सदस्य एक निर्धारित तरीके से समाज में आचरण करें जिससे समाज में व्यवस्था बनी रहे। अतः सामाजिक नियंत्रण समाज के अस्तित्व के लिए आवश्यक तत्व है। इस भाग में हम सामाजिक नियंत्रण के अर्थ, महत्व व प्रकारों पर प्रकाश डालेंगे इस भाग में हम विभिन्न विद्वानो द्वारा सामाजिक नियंत्रण हेतु दिये गए सिद्धांतो का उल्लेख करेंगे तथा उन अभिकरणों व साधनो को समझने का प्रयास करेंगे जो सामाजिक नियंत्रण मे अपना योगदान देते है।

8.2 सामाजिक नियंत्रण का अर्थ एवं परिभाषाए

मनुष्य का स्वभाव स्वछन्द एवं अराजक होता है। यदि उसे स्वतन्त्र व्यवहार करने के लिए छोड़ दिया जाये तो एक व्यवस्थित सामाजिक ढाँचे की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः समाज में व्यवस्था बनाये रखने तथा व्यक्तियों के व्यवहारों को नियंत्रित रखने के लिए कुछ नियमों तथा कार्य करने के तरीकों का विकास किया जाता है। संक्षेप में, नियंत्रण की इस व्यवस्था को ही सामाजिक नियंत्रण कहते है। किंग्सले डेविस (Kngsley Davs) के अनुसार समाज का निर्माण ही सामाजिक संबंधों और नियंत्रण की व्यवस्था' द्वारा होता है क्योंकि एक की अनुपस्थिति में दूसरे का अस्तित्व किसी प्रकार भी सुरक्षित नहीं है।

मैकाइवर एंव पेज के अनुसार, "सामाजिक नियंत्रण का अर्थ उस तरीके से है जिससे सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था की एकता और उसका स्थायित्व बना रहता है। इसके द्वारा यह समस्त व्यवस्था एक परिवर्तनशील संतुलन के रूप में क्रियाशील रहती है।" अर्थात सामाजिक नियंत्रण वह स्थिति है जिसमें अनेक नियमों के द्वारा व्यक्तियों के व्यवहारो में इस प्रकार रिवर्तन किया जाता है, जिससे समाज में संतुलन बना रहे।

रॉस के अनुसार, "सामाजिक नियंत्रण का तात्पर्य उन सभी शक्तियों से है जिनके

द्वारा समुदाय व्यक्ति को अपने अनुरूप बनाता है।" इसका तार्त्य यह है कि सामाजिक नियंत्रण के द्वारा व्यक्ति को एक सामाजिक प्राणी बनाया जाता है।

परसन्स के अनुसार, "विपथगामी प्रवृत्तियों की कली को फूल बनने से पहले ही कुचल देना सामाजिक नियंत्रण है।" अर्थात् सामाजिक नियंत्रण के द्वारा समाज विरोधी व्यवहारों को बढ़ने से पहले ही रोक दिया जाता है।

ऑगबर्न तथा निमकॉफ के अनुसार, "दबाव का वह प्रतिमान, जिसे समाज के द्वारा व्यवस्था बनाये रखने और नियमों को स्थापित रखने के उपयोग में लाया जाता है, सामाजिक नियंत्रण कहा जाता है।" इससे स्पष्ट है कि औपचारिक व अनौपचारिक साधनों की सहायता से मनुष्य के व्यवहार को नियंत्रित करके समाज में व्यवस्था को बनाये रखा जाता है।

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक नियंत्रण में व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह सामाजिक प्रतिमानों के अनुरूप आचरण करे। इस प्रकार सम्पूर्ण समाज में एकता एवं व्यवस्था बनाये रखने के लिए लोगों के व्यवहार का नियमन करना ही सामाजिक नियंत्रण है।

बोध प्रश्न 1

1.सामाजिक नियंत्रण किसे कहते है?

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

8.3 सामाजिक नियंत्रण का महत्व

वर्तमान युग के भी सभी विचारक यह मानते है कि समाज में निरन्तर होते रहने वाले परिवर्तनों में संतुलन बनाये रखने के लिए सामाजिक नियंत्रण का होना अति आवश्यक है। किसी भी समाज में व्यवस्था एवं संगठन को बनाये रखने की दृष्टि से व्यक्तियों के व्यवहारो को नियंत्रित करना आवश्यक है। सामाजिक व्यवस्था को विघटित होने से बचाने के लिए मानव की अराजक और व्यक्तिवादी

प्रवृति पर अंकुश लगाना आवश्यक है तथा सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने व समाज के अस्तित्व के लिए सामाजिक नियंत्रण आवश्यक है।

- **सामाजिक संगठन में स्थिरता–** सामाजिक नियंत्रण द्वारा व्यक्ति की अराजक प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखा जाता है और उसे समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहारों के अनुरूप आचरण करने हेतु प्रेरित किया जाता है। जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक संगठन में स्थिरता आती है।

- **परम्पराओं की रक्षा–** सामाजिक नियंत्रण द्वारा लोगों को परम्पराओं की रक्षा करने के लिए बाध्य किया जाता है। परम्पराओं का हस्तान्तरण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में होता है। परम्पराओं के अनुरूप आचरण करने से समाज में दृढता बनी रहती है।

- **समूह में एकता–** सामाजिक नियंत्रण द्वारा लोगों के व्यवहार को नियंत्रित करके समूह में एकता की भावना का विकास किया जाता है जो समाज में व्यवस्था एवं अखण्डता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। सामाजिक नियंत्रण एक समूह के सदस्यों को समान नियमों के अनुसार कार्य करने के लिए प्रेरित करता है तथा उल्लंघन करने पर दण्ड का प्रावधान भी रखता है। इससे समान दृष्टिकोण का विकास होता है जिससे समूह में एकता की स्थापना होती है।

- **सामाजिक सुरक्षा–** सामाजिक नियंत्रण द्वारा व्यक्ति को शारीरिक एवं मानसिक सुरक्षा प्रदान की जाती है। सुरक्षा के अभाव में व्यक्ति को विकास के अवसर और समाज में संगठन नहीं पाया जा सकता।

- **व्यक्तिगत व्यवहार पर नियंत्रण–** यदि सभी व्यक्ति अपनी इच्छानुसार व्यवहार करने लगे तो सामाजिक अस्तित्व खतरे में पड़ जायेगा। नियंत्रण के अभाव में मानव पशु के समान व्यवहार करने लगेगा। सामाजिक नियंत्रण द्वारा व्यक्ति के इसी स्वछन्द व्यवहार पर रोक लगायी जाती है जिससे समाज में व्यवस्था बनी रहे।

लैण्डिस के अनुसार– नियंत्रण के कारण ही मनुष्य वास्तविक मानव है। (man is human because of control) इस प्रकार नियंत्रण के द्वारा मनुष्य के व्यक्तिगत व्यवहार को भी नियंत्रित किया जाता है जिससे समाज में संगठन तथा व्यवस्था बनी रहे।

बोध प्रश्न 2

1 सामाजिक नियंत्रण के दो महत्व बताइये।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

8.4 सामाजिक नियंत्रण के प्रकार (TYPES OF SOCIAL CONTROL)

समाज और सामाजिक संबंधों की प्रकृति, सामाजिक दशाओं एवं व्यक्तिगत व्यवहार में अंतर के आधार पर सभी समाजों में सामाजिक नियंत्रण के प्रकारों में भिन्नता पायी जाती है। मुख्यतया सामाजिक नियंत्रण के निम्न प्रकार पाये जाते है:

1 चेतन और अचेतन नियंत्रण (Conscious and Unconscious Control)

कूले तथा बर्नार्ड ने सामाजिक नियंत्रण के दो स्वरूपों– चेतन व अचेतन का उल्लेख किया–

A चेतन ऐसे व्यवहार जिनके प्रति व्यक्ति सचेत रहता है कि कोई त्रुटि न हो जाये। इसमें व्यक्ति सचेत एवं जागरूक रहकर व्यवहार करता है। उदाहरण जाति व्यवस्था में खान–पान, छूआछूत एवं विवाह के नियमों का पालन।

B अचेतन ऐसे व्यवहार जो व्यक्तित्व के अंग बन चुके होते हैं और जिनका हमारे मस्तिष्क में स्थायी प्रभाव रहता है। इसमें व्यक्ति अचेतन एवं स्वाभाविक, रूप से आचरण करते हैं। उदाहरण परम्पराओं, संस्कारों एवं धार्मिक विश्वासों के आधार पर व्यवहार।

2 प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष नियंत्रण (Direct and Indirect Control)

कार्ल मॉनहीम ने सामाजिक नियंत्रण के प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष स्वरूपों का उल्लेख किया

प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष

A प्रत्यक्ष – इस प्रकार का नियंत्रण व्यक्ति पर उसके समीप के व्यक्तियों द्वारा लगाया जाता है। इस प्रकार के नियंत्रण का प्रभाव गहरा एवं स्थायी होता है। उदाहरण – माता–पिता मित्रों आदि के द्वारा प्रशंसा एवं आलोचना।

B अप्रत्यक्ष – इस प्रकार का नियंत्रण व्यक्ति पर विभिन्न संस्थाओं एव समूहों

द्वारा लगाया जाता है। इस प्रकार के नियंत्रण में तर्क एवं सामूहिक कल्याण को अधिक महत्व दिया जाता है। उदाहरण – कानून व्यवस्था।

3.सकारात्मक और नकारात्मक नियंत्रण (Positive and Negative Control)

किम्बाल यंग ने सामाजिक नियंत्रण को सकारात्मक एवं नकारात्मक दो भागों में विभाजित किया–

A सकारात्मक – इस प्रकार के नियंत्रण में व्यक्ति को पुरस्कार देकर सही व्यवहार करने के लिए प्रेरित किया जाता है। उदाहरण – पुरस्कार, धन्यवाद, शाबासी आदि।

B नकारात्मक – इसमें समाज विरोधी व्यवहार करने वाले व्यक्ति को दण्डित किया जाता है। दण्ड की मात्रा अपराध की गंभीरता पर निर्भर करती है। उदाहरण– व्यंग्य, आलोचना, जेल, जुर्माना आदि।

4 संगठित, असंगठित तथा सहज नियंत्रण (Organized] Unorganized and Automatic Control)

गुरविच तथा मूर ने सामाजिक नियंत्रण के तीन स्वरूपों का उल्लेख किया–

A **संगठित**– इसमें अनेक छोटी बड़ी एजेन्सियों और व्यापक नियमों द्वारा व्यक्तियों के व्यवहारों को नियंत्रित किया जाता है। इसमें व्यक्ति के अधिकारों एवं कर्तव्यों को स्पष्ट कर दिया जाता है। उदाहरण –शिक्षण संस्था, परिवार, राज्य आदि।

B **असंगठित**– इसमें सांस्कृतिक प्रतीक एवं नियम आते हैं। इनका प्रभाव सर्वाधिक होता है। दैनिक जीवन में इसका प्रभाव सबसे अधिक होता है। उदाहरण –संस्कारों, परम्पराओं, जन–रीतियों आदि द्वारा किया जाने वाला नियंत्रण।

C **सहज**– इसमें व्यक्ति स्वयं अपने अनुभव एवं आवश्यकता के कारण कुछ नियंत्रणों को स्वीकार करता है। इस प्रकार का नियंत्रण सहज प्रकृति का होता है। उदाहरण –धार्मिक नियम।

5 सत्तावादी एवं लोकतान्त्रिक/प्रजातान्त्रिक नियंत्रण (Autocratic and Democratic Control)

लेपियर ने सामाजिक नियंत्रण को दो भागों में बांटा–

A सामाजिक नियंत्रण सत्तावादी– इसमें प्रशासनिक संस्था अथवा व्यक्ति शक्ति

का प्रयोग करके व्यवहार को नियंत्रित करता है। उदाहरण– निरंकुश एवं तानाशाह शासक।

B सामाजिक नियंत्रण लोकतान्त्रिक– इसमें व्यक्तियों को स्वेच्छा से एक विशेष प्रकार का आचरण करने को प्रेरित किया जाता है। उदाहरण– पुरस्कार एवं भावात्मक प्रेरणाएं।

6 औपचारिक एवं अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण (Formal and Informal Social Control)

कुछ समाजशास्त्रियों ने सामाजिक नियंत्रण को औपचारिक एवं अनौपचारिक दो भागों में बांटा

A औपचारिक – यह नियंत्रण लिखित एवं निश्चित कानूनों तथा नियमों द्वारा किया जाता है। इस प्रकार के नियंत्रण का संबंध राज्य से होता है। इसमें नियमों का उल्लघंन करने की स्थिति में दण्ड की भी व्यवस्था होती है। उदाहरण कानून, न्यायालय, पुलिस एवं जेल आदि।

B अनौपचारिक – इसमें सरल और ग्रामीण समाजों, में प्रथाओं, परम्पराओं, विश्वासों आदि के द्वारा नियंत्रण रखा जाता है। यह नियंत्रण मौखिक व अलिखित रूप से किया जाता है। इस प्रकार के नियंत्रण का संबंध राज्य से न होकर समाज से होता है। नियमों का उल्लघंन करने पर दण्ड परिस्थितियों के अनुसार दिया जाता है। उदाहरण प्रथाएं, परम्पराएँ आदि।

औपचारिक तथा अनौपचारिक नियंत्रण – सामाजिक नियंत्रण को प्रमुख रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है– औपचारिक नियंत्रण तथा अनौपचारिक नियंत्रण। प्राचीन समय में समाजों का आकार छोटा होता था जिससे समूह के अधिकांश लोग व्यक्तिगत रूप में एक दूसरे को जानते थे। आदिम समाजों में परम्पराओं के निर्वहन पर जोर दिया जाता था तथा धार्मिक एवं नैतिक विचारों की प्रधानता थी। अतः ऐसे समाजों में व्यक्तियों के व्यवहारों को प्रथाओं, परम्पराओं तथा धार्मिक नियमों के द्वारा नियंत्रित किया जाता था। इस प्रकार के नियंत्रण को हम अनौपचारिक नियंत्रण कहते है। विकास के साथ–साथ समूह का आकार विस्तृत होता चला गया तथा धार्मिक विश्वासों एवं प्रथाओं का प्रभाव भी क्षीण होता चला गया। ऐसी स्थिति में सामाजिक जीवन में व्यवस्था बनाये रखने एवं व्यक्तियों के व्यवहारों को नियंत्रित करने के लिए कानून, पुलिस, न्यायालयों आदि की स्थापना की गयी। नियंत्रण के इस स्वरूप को औपचारिक नियंत्रण कहते है।

8.5 औपचारिक सामाजिक नियंत्रण (FORMAL SOCIAL CONTROL)

अर्थ (Meaning)

औपचारिक नियंत्रण से तात्पर्य नियंत्रण की एक ऐसी व्यवस्था से है जिसकी स्थापना राज्य अथवा औपचारिक संगठनों द्वारा की जाती है। इसमें सुपरिभाषित नियमों द्वारा व्यक्ति तथा समूह के व्यवहारों पर नियंत्रण रखा जाता है। आधुनिक समाज में सभी कार्यालयों, व्यक्तिगत प्रतिष्ठानों आदि में अपने–अपने औपचारिक नियम होते है जिनका पालन संबंधित कर्मचारियों को करना पड़ता है। नियमों की पालना न करने की स्थिति में दण्ड का प्रावधान भी होता है। औपचारिक नियत्रंण में व्यक्ति की अपेक्षा उसके पद (Status) का महत्व अधिक होता है। उच्च पद पर आसीन व्यक्ति के आदेशों का पालन सभी मातहतों को करना पड़ता है। उदाहरण नौकरशाही व्यवस्था।

अत: स्पष्ट है कि ''जब राज्य अथवा कोई प्रशासनिक संस्था व्यक्ति को कुछ सुपरिभाषित नियमों के अनुसार व्यवहार करने को बाध्य करती है तथा शक्ति के द्वारा इस व्यवस्था को बनाये रखती है, तब इस प्रकार स्थापित किये गये नियंत्रण को हम औपचारिक नियंत्रण कहते है।''

विशेषताएँ (Characteristic)

- **आधुनिक समाजों की विशेषता** (Characteristic of modern societies) यह नियंत्रण आधुनिक (जटिल) समाजों में व्यापक रूप से देखने को मिलता है। आधुनिक समाज आकार में बड़े होते है तथा उनके विचारों, मनोवृत्तियों और जीवन के ढंग में भी अत्यधिक भिन्नता पायी जाती है। अतः व्यवहारों में समानता लाने तथा समाज में संगठन बनाये रखने के लिए औपचारिक नियंत्रण का सहारा लिया जाता है।
- **स्पष्ट नियम** (Clarity of Rules) औपचारिक नियंत्रण में नियमों की स्पष्टता पायी जाती है। इन नियमों की व्याख्या न्यायालयों द्वारा की जाती है अतः अवहेलना करने की स्थिति में दण्ड का भी प्रावधान होता है।
- **परिवर्तन संभव** (Possibility of Change) औपचारिक नियंत्रण की प्रकृति परिवर्तनशील होती है यदि परिस्थितियाँ बदल जाने की स्थिति में औपचारिक नियंत्रण का पुराना स्वरूप उपयोगी प्रतीत नहीं होता तो कानूनों में संशोधन भी किया जा सकता है।

- **बाध्यता** (Constraint) औपचारिक नियंत्रण की स्थिति में व्यक्ति एक निश्चित व्यवहार को करने के लिए बाध्य होता है। व्यक्ति को सदैव दण्ड का भय रहता है। अतः औपचारिक नियंत्रण अपनी प्रकृति से बाध्यता मूलक होता हे।
- **बाहायता** (Euteriarity) व्यक्ति कभी भी औपचारिक नियंत्रण को अपनी स्वाभाविक इच्छा से स्वीकार नहीं करते। बाध्यता का गुण होने के कारण वे इससे बचने का प्रयास करते है।

अत: औपचारिक नियंत्रण व्यक्ति के व्यक्तित्व के बाह्य पक्ष को प्रभावित करता है।

8.6 औपचारिक सामाजिक नियंत्रण के साधन (Means of Formal Social Control)

जटिल एवं औद्योगिक समाजों में औपचारिक नियंत्रण का सहारा लिया जाता है

जिसके लिए निम्न साधनों का प्रयोग किया जाता है–

- **कानून (Law)** – विभिन्न कानूनों के माध्यम से व्यक्तियों के व्यवहारों, अधिकारों एवं कर्तव्यों का निर्धारण करके सामाजिक नियंत्रण स्थापित किया जाता है।
- **राज्य (State)** – राज्य लोगों से कानूनों का पालन कराता है और इनका उल्लंघन करने वालों के विरूद्ध दण्डात्मक कार्यवाही करता है। दण्ड के भय से लोग कानून को तोड़ने का साहस नहीं करते।
- **पुलिस व अदालत (Police and Court)** – कानून विरोधी कार्य करने वाले व्यक्तियों को पुलिस पकड़ती है फिर उन पर अदालत में मुकदमा चलता है और दोषी पाये जाने पर उन्हें दण्डित किया जाता है।
- **जेल या बन्दीगृह (Jail)** – अदालत द्वारा सुनाये गये दण्ड को व्यक्ति जेल में रहकर काटता है जहां उसे अपने प्रियजनों के बिना रहना पड़ता है। यह पृथक्करण उसके लिए कष्टदायक होता है। जेल में व्यक्ति को शारीरिक एवं मानसिक कष्ट दिये जाते हे जिसके भय से व्यक्ति कानून के विरूद्ध आचरण करने से घबराता है।
- **स्कूल, कॉलेज तथा विश्वविद्यालय (School] college and universities)**– इन शिक्षण संस्थाओं से संबंधित कुछ नियम होते है जिनका पालन विद्यार्थियों को करना आवश्यक है। इनके विरूद्ध आचरण

करने पर उन्हें शिक्षण–संस्था के प्रधान द्वारा दण्डित किया जाता है।

8.7 अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण (INFORMAL SOCIAL CONTROL)

अर्थ (Meaning)

अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण के अन्तर्गत व्यक्ति किसी– जनरीति, प्रथा, रूढि या परम्परा के अनुसार व्यवहार करता है। इस प्रकार के नियंत्रण को ओल्सेन (Olsen) ने आत्म नियंत्रण (Self&Control) का नाम दिया। अनौपचारिक नियंत्रण का विकास समय के साथ सामाजिक अन्तःक्रिया के परिणामस्वरूप अपने आप होता है। सामाजिक नियंत्रण का यह प्रकार सामाजिक नियमों के रूप में व्यक्तियों के व्यवहार को नियंत्रित करता है। व्यक्ति सामाजिक नियमों को समूह कल्याण की दृष्टि से उपयोगी एवं आवश्यक मानता है, अतः उनके अनुरूप आचरण करता है। सरल और परम्परागत समाजों में अनौपचारिक नियंत्रण अधिक प्रभावी होता है। यह नियंत्रण औपचारिक नियंत्रण की तुलना में अधिक शक्तिशाली और स्थायी होता है। इसमें एकरूपता पायी जाती है क्योंकि इसमें बिना किसी भेदभाव के सभी को व्यवहार के एक समान नियमों का पालन करने पर जोर दिया जाता है।

अत: अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण में जनरीतियों, प्रथाओं, परम्पराओं, आदर्शों, विश्वासों आदि के माध्यम से व्यक्तियों एवं समूहों के व्यवहारो को नियंत्रित किया जाता है। इनका पालन व्यक्ति नैतिक कर्तव्य मानकर करता है।

विशेषताएं (Characteristics)

- **सामाजिक प्रकृति (Social Nature) –** इस प्रकार के सामाजिक नियंत्रण का स्रोत स्वयं समाज होता हैं। अनौपचारिक नियंत्रण के विभिन्न साधनों का विकास सामाजिक अन्तःक्रिया के दौरान स्वतः होता है। इस कार्य के लिए प्रत्येक समूह की अपनी–अपनी एक पंचायत अथवा सभा होती है। जो व्यक्तियों के व्यवहारों का अवलोकन करती है। इसमें राज्य के कानूनों आदि का कोई हस्तक्षेप नहीं होता।

- **अलिखित (Unwritten) –** अनौपचारिक नियंत्रण के साधन जैसे–परम्पराएं, प्रथाएं, रूढियां, विश्वास आदि अलिखित रूप में पाये जाते है। ये पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तान्तरित होते है तथा लोगों के व्यवहारों को नियंत्रित करते है। समूह का प्रत्येक सदस्य इनका पालन एक कठोर नियम के रूप में करता है।

- **आंतरिक पक्ष से संबंधित (Related to internal aspect)** – अनौपचारिक नियंत्रण के साधनों का संबंध व्यक्ति के व्यक्तित्व के आन्तरिक पक्ष से होता है। समाज की प्रथाएं, परम्पराएं, रूढ़ियां, विश्वास आदि व्यक्ति के व्यक्तित्व के अंग बन जाते है तथा व्यक्ति उन्हीं के अनुरूप आचरण करने लगता है।

- **समूह कल्याण की भावना (Feeling of group welfare)** – अनौपचारिक नियंत्रण के साधनों में समूह कल्याण की भावना पायी जाती है, यही कारण है कि समूह के लोग इनके अनुरूप आचरण करते है व इन्हें टूटता नहीं देख सकते है। समूह का आकार जितना छोटा होगा समूह कल्याण की भावना उतनी ही अधिक आवश्यक समझी जायेगी।

- **सामाजिक मूल्यों एवं आदर्शों पर आधारित (Based on social values and Ideals)** – अनौपचारिक नियंत्रण समाज के मूल्यों एवं आदर्शो का प्रतिनिधित्व करता है। इनके अनुसार आचरण करना किसी भी समाज के सदस्यों का नैतिक दायित्व माना जाता है।

- **ढ़िवादिता अथवा अपरिवर्तनशीलता –** प्रथाएं, परम्पराएं, विश्वास, आदि अनौपचारिक नियंत्रण के साधन है,जिनकी प्रकृति रूढिवादी होती है अर्थात् ये समय की आवश्यकता के अनुसार शीघ्र परिवर्तित नहीं होते।

8.8 औपचारिक तथा अनौपचारिक नियंत्रण में अंतर (Distinction between Formal and Informal Control)

क्र0 स0	औपचारिक नियंत्रण	अनौपचारिक नियंत्रण
1	ये सुपरिभाषित एवं लिखित होता है। इसकी अभिव्यक्ति कानूनों में होती है।	ये कभी भी पूर्णतया लिखित नहीं होता। इसका रूप परम्पराओं में स्पष्ट होता है।
2	इसके सबसे प्रभावशाली साधन कानून, न्यायालय और पुलिस है।	परम्पराएं एवं धार्मिक नियम इसे अधिक प्रभावपूर्ण बनाते है।
3	यह व्यक्तित्व के बाह्य पक्ष को अधिक प्रभावित करता है।	यह व्यक्तित्व के आंतरिक पक्ष को प्रभावित करता है।
4	इसमें दण्ड देने का कार्य राज्य अथवा प्रशासनिक संगठन द्वारा किया जाता है।	इसके अन्तर्गत दण्ड देने का कार्य समूह के प्रमुख व्यक्तियों द्वारा किया जाता है।

5	इसमें अनुकूलनशीलता व परिवर्तन– शीलता का गुण पाया जाता है।	इसमें रूढिवादिता व अपरिवर्तनशीलता का गुण पाया जाता है।
6	यह जटिल व बड़े समूहों में अधिक प्रभावपूर्ण होता है।	यह सरल व अपेक्षाकृत छोटे समूहों में पाया जाता है।
7	यह शारीरिक दण्ड, उत्पीड़न और शक्ति–प्रदर्शन के द्वारा व्यक्ति व समूह के व्यवहारों को नियंत्रित करता है।	यह प्रशंसा, आरोप, हास्य, व्यंग्य तथा पुरस्कार आदि क माध्यम से व्यक्ति क व्यवहारों पर नियंत्रण रखता है।
8	इसका निर्माण आवश्यकता और साधनों को देखते हुए किया जाता है।	इसका विकास एक लम्बी अवधि में धीरे–धीरे स्वतः होता है।
9	यह व्यक्तिवादी होता है।	यह समूहवादी होता है।
10	यह बाध्यतामूलक होता है।	यह अपेक्षाकृत कम बाध्यतामूलक होता है।

अत: स्पष्ट है कि औपचारिक एंव अनौपचारिक नियंत्रण एक दूसरे से भिन्न होने के बावजूद भी एक दूसरे के पूरक है। आदिम समाज से आधुनिक समाज तक व्यक्तियों के व्यवहारों को नियंत्रित करने के लिए कानूनों एवं शारीरिक उत्पीड़न को महत्व दिया जाता है। लेकिन आज के जटिल समाजों में व्यवहारो को कानून द्वारा नियंत्रित करने के उपरान्त भी प्रथाओं, परम्पराओं और धार्मिक नियमों का महत्व कम नहीं हुआ है अर्थात् प्रत्येक समाज में नियंत्रण का औपचारिक व अनौपचारिक स्वरूप साथ–साथ विद्यमान रहता है। समाज के विकास के साथ–साथ औपचारिक नियंत्रण की मात्रा अवश्य बढ़ जाती है लेकिन अनौपचारिक नियंत्रण भी अपना अस्तित्व बनाये रखता हे।

बोध प्रश्न 3

1. सकारात्मक व नकारात्मक सामाजिक नियंत्रण किसे कहते है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

8.9 सामाजिक नियंत्रण के सिद्धान्त (THEORIES OF SOCIAL CONTROL)

रॉस का सिद्धान्त (Theory of Ross) रॉस ने 1901 में अपनी पुस्तक (Social Control) में सामाजिक नियंत्रण संबंधी अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया। रॉस के अनुसार सामाजिक नियंत्रण में विश्वासो की भूमिका महत्वपूर्ण होती है, विश्वास चाहे किसी भी रूप में हो, लोगों के व्यवहारों पर नियंत्रण रखते है। अतः विश्वासों का प्रभाव सर्वव्यापी है। इसका तात्पर्य है कि सामाजिक नियंत्रण की स्थापना केवल कुछ विशेष कानूनों से ही नहीं होती, बल्कि इसकी स्थापना में विश्वासों का योगदान सबसे अधिक होता है।

रॉस के अनुसार समाज को दो भागों में बांटा जा सकता है–

(1) प्राकृतिक समाज (Natural Society) और **(2) वर्गो पर आधारित समाज** (Class Based Society) प्राकृतिक समाजों में व्यक्ति के व्यवहारों पर कोई बाहरी नियंत्रण नहीं होता तथा वर्गो पर आधारित समाज में शक्तिशाली एवं साधन सम्पन्न वर्ग द्वारा अन्य वर्गो के व्यवहारों पर नियंत्रण रखा जाता है। साधन सम्पन्न वर्गो का विश्वास है कि वे अन्य वर्गों पर नियंत्रण रखकर और अधिक शक्तिशाली हो सकते है जबकि छोटे वर्गो का भी यह विश्वास है कि नियंत्रण में रहने पर ही उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव है। विश्वासों का महत्व राज्य से कही अधिक होता है। ये विश्वास धर्म, प्रथाओं, आदर्शों आदि के रूप में व्यक्त होते है। विश्वास ही लोगों में सहानुभूति, न्याय, सामाजिकता और बदले की भावना पैदा करते है। ये भावनाएं ही समाजिक नियंत्रण की आधार एवं साधन है। रॉस ने सामाजिक नियंत्रण के विभिन्न साधनों जैसे–प्रथा, धर्म, कानून, सुझाव, कला, उत्सव आदि का उल्लेख किया। रॉस ने अपने विचारों द्वारा अलौकिक शक्ति और भूत–प्रेतों द्वारा नियंत्रण की भ्रांति को दूर किया।

हरबर्ट स्पेन्सर का सिद्धान्त (Theory of Herbert Spencer) – हरबर्ट स्पेन्सर ने अपनी पुस्तक, Principles of Sociology में सामाजिक नियंत्रण संबंधी अपने विचार व्यक्ति किये। उनके अनुसार मनुष्य समाज का अभिन्न आंग है तथा उसे प्रकृति से संघर्ष करने के लिए समाज की सदस्यता ग्रहण करनी पड़ती है। स्पेन्सर ने धर्म, प्रथा, सरकार और नैतिकता को सामाजिक नियंत्रण के प्रमुख साधन माना, जिनके द्वारा व्यक्तियों के व्यवहारों को नियंत्रित एवं नियमित किया जाता है।

कूले का सिद्धान्त (Theory of Cooley)– कूले ने अपनी पुस्तक 'Human

Nature and the Social Order' में सामाजिक निंयत्रण की अवधारणा को प्रस्तुत किया। कूले के अनुसार सभी समाजों में चाहे वो आदिम हो या आधुनिक, सामाजिक नियंत्रण पाया जाता है। कूले ने आत्म (Self), सामाजिक सहभागिता (Social Participation), समाजीकरण Socialization आदि के आधार पर सामाजिक नियंत्रण की व्याख्या की। कूले के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक सहभागिता एवं समाजीकरण के माध्यम से अपने आत्म का विकास करता है, जो की उसकी मौलिक आवश्यकता है। सामाजिक नियंत्रण द्वारा व्यक्ति की सामाजिक सहभागिता एवं समाजीकरण में वृद्धि की जाती है। वे समूह या संस्थाएं जो इस कार्य में सहयोग देते है, सामाजिक नियंत्रण के प्रमुख साधन कहे जाते है। कूले प्राथमिक समूहों जैसे–परिवार, पड़ौस और मित्र–मंडली को सामाजिक नियंत्रण में सबसे अधिक महत्वपूर्ण मानते है।

दुर्खीम का सिद्धान्त (Theory of Durkhiem) दुर्खीम के अनुसार व्यक्ति के समाजीकरण तथा समाज के हितों की रक्षा के लिए सामाजिक नियंत्रण आवश्यक है। उन्होंने "सामूहिक प्रतिनिधान (Collective Representation) की सामाजिक नियंत्रण में महत्वपूर्ण भूमिका का उल्लेख किया। उन्होंने बताया कि सामूहिक प्रतिनिधान जैसे– प्रथाएं, कानून, रीति–रिवाज, धर्म आदि के प्रभावपूर्ण बनने से समाज में समूह–कल्याण को प्रोत्साहन मिलता है। सामूहिक प्रतिनिधान उन भावनाओं, विचारों, विश्वासों एवं व्यवहारों को कहते है जिन्हें समूह के सभी व्यक्ति मानते है तथा इनके अभाव में निजी स्वार्थ की भावना प्रबल होने लगती है। इस प्रकार सामूहिक प्रतिनिधान व्यक्ति के स्वार्थी एवं समाज विरोधी व्यवहार पर प्रतिबन्ध लगाते है। सामूहिक प्रतिनिधान सामाजिक नियंत्रण के प्रभावशाली साधन है जो हित समूहों के प्रभावों को कम करके सामूहिक कल्याण को प्रोत्साहन देते है।

पारसन्स का सिद्धान्त (Theory of Parson) पारसन्स ने सामाजिक नियंत्रण संबंधी विचार अपनी पुस्तक 'The Social System' में प्रस्तुत किए। उन्होंने अपने सिद्धान्त में सामाजिक नियंत्रण के उद्देश्यों, साधनों एवं प्रक्रियाओं का उल्लेख किया। उनके अनुसार सामाजिक नियंत्रण का उद्देश्य व्यक्ति और समूह के समाज विरोधी व्यवहारो पर रोक लगाना है, जिससे समाज में अखण्डता व व्यवस्था बनी रहे। मनुष्य अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संस्थाओं का निर्माण करता है। ये संस्थाएं समाज में संतुलन बनाने में सहायक होती है लेकिन जब इन संस्थाओं का प्रभाव घटने लगता है तो समाज में विघटन की प्रवृति पनपने लगती है। पारसन्स के अनुसार संस्थाएं समाज में दो

प्रकार के नियंत्रण रखती है– (1) संस्थागत समय सारणी तय करके अर्थात् संस्थाएं व्यक्ति को यह बताती है कि किस समय कौन सा कार्य करना है। (2)संस्थागत प्राथमिकताएं बताकर अर्थात् संस्थाएं व्यक्ति को यह भी बताती है कि कौन सा कार्य पहले करना है और कौन सा बाद में। संस्थाएं सामाजिक नियंत्रण का आधार है और संस्थाओं को प्रभावपूर्ण बनाये रखना सामाजिक नियंत्रण का प्रमुख उद्देश्य है। समाज में संस्थाएं अर्थात् व्यवहार के नियम, सभी व्यक्तियों को इन नियमों के अनुसार कार्य करने के लिए प्रेरित करते है। फिर भी कुछ व्यक्ति समाज विरोधी कार्य करने लगते है। अतः पारसन्स का मत है कि प्रत्येक समाज में समाज विरोधी व्यवहार को रोकने की तीन व्यवस्थाएं पायी जाती है– (1) कुछ ऐसे साधन होते हैं जो समाज विरोधी प्रवृतियों को अधिक बढ़ने से पहले ही कुचल देते है। (2) समाज विरोधी व्यवहार करने वाले व्यक्तियों के प्रभाव से दूसरे व्यक्तियों को बचाया जाता है। (3) द्वैतीयक प्रतिरक्षा द्वारा समाज विरोधी प्रवृतियों को विपरीत दिशा में मोड़ दिया जाता है। कुप्रवृतियों को सुषप्रवृत्तियों में बदलने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार सामाजिक नियंत्रण एक सदैव चलने वाली प्रक्रिया है जिसे परिस्थिति एवं आवश्यकता के अनुसार, परिवर्तित किया जा सकता है।

पारसन्स के अनुसार– "सामाजिक नियंत्रण की आधारभूत प्रक्रिया, संस्थागत रूप से संगठित सामाजिक व्यवस्था की पारस्परिक क्रियाओं में ही पायी जा सकती है।"

बोध प्रश्न 4

1. सामाजिक नियंत्रण के प्रमुख सिद्धान्तों की समीक्षा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

8.10 सामाजिक नियंत्रण के अभिकरण तथा साधन (AGENCIES AND MEANS OF SOCIAL CONTROL)

अभिकरण (Agency) का तात्पर्य किसी भी ऐसे समूह, संगठन अथवा सत्ता से होता है जो नीतियों का निर्माण करती है तथा नियमों को समूह और व्यक्ति पर लागू करती है। अभिकरण सामाजिक नियंत्रण का प्रत्यक्ष माध्यम है। इसके विपरीत साधन (means) का तात्पर्य किसी भी ऐसी विधि अथवा तरीके से है जिसके द्वारा कोई अभिकरण अपनी नीतियों और आदेशों को लागू करती है। उदाहरण के लिए प्रथा, परम्परा, लोकाचार, हास्य–व्यंग्य और तिरस्कार सामाजिक नियंत्रण के 'साधन' है। इसी प्रकार राज्य सामाजिक नियंत्रण का एक 'अभिकरण' है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण से परिवार, राज्य, शिक्षण संस्थाएं, धर्म तथा नेता आदि सामाजिक नियंत्रण के प्रमुख अभिकरण है जबकि जनरीतियां, लोकाचार, प्रथाएं, कानून, प्रचार, जनमत तथा पुरस्कार और दण्ड आदि इन अभिकरणों को प्रभावपूर्ण बनाने वाले साधन है। सामाजिक निंयत्रण में इनके योगदान को निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है–

1. परिवार (Family)– परिवार सामाजिक नियंत्रण का सबसे महत्वपूर्ण अभिकरण है। परिवार आरम्भिक जीवन से ही बच्चे को जनरीतियों, प्रथाओं, लोकाचारों, संस्कृति और व्यवहार के नियमों की शिक्षा देता है। समाज में व्यवहार करने के समाज सम्मत तरीकों को व्यक्ति परिवार में रहकर ही सीखता है। परिवार एक प्राथमिक समूह है अतः सामाजिक नियंत्रण के क्षेत्र में भी इसका प्रभाव प्राथमिक है। परिवार के सदस्यों द्वारा आलोचना एवं तिरस्कार व्यक्ति के लिए सबसे बड़ा दण्ड होता है अतः व्यक्ति किसी भी ऐसे कार्य को करने से बचता है जो की समाज में उसकी प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचाये।

2. राज्य (State) – राज्य के पास शक्ति और दण्ड के विकसित साधन है अतः औद्योगीकरण, नगरीकरण और व्यक्तिवादिता से पूर्ण समाज में सामाजिक नियंत्रण का कार्य राज्य ही प्रभावपूर्ण ढंग से कर सकता है। आंतरिक और बाह्य सुरक्षा की स्थापना करने में भी राज्य सर्व अधिकार सम्पन्न होता है। राज्य प्रशासन, कानून, सेना, पुलिस और न्यायालयों के द्वारा व्यक्ति व समूह के व्यवहारों पर औपचारिक रूप से नियंत्रण की स्थापना करता है। मैकाइवर का कथन है कि राज्य व्यक्ति में उन सभी क्षमताओं को उत्पन्न करता है जो सामाजिक नियंत्रण के लिए आवश्यक है।

3. शिक्षण संस्थाएं (Educational Institutions)– शिक्षण संस्थाएं व्यक्ति के व्यक्तित्व के आंतरिक व बाह्य पक्ष को प्रभावित करती है, वे उसे अनुशासन में

रहना सीखाती है। इनसे प्राप्त ज्ञान व्यक्तित्व के आंतरिक पक्ष को भी नियंत्रित करता है। शिक्षण संस्थाओं के माध्यम से व्यक्ति में अच्छे–बुरे, सही–गलत का निर्णय करने की क्षमता का विकास किया जाता है जिससे वह प्रत्येक व्यवहार के परिणामों को समझने लगता है। तथा व्यक्ति की समाज विरोधी मनोवृत्ति का समाजीकरण हो जाता है। अतः शिक्षित समाज अधिक नियन्त्रित और संगठित होता है।

4. नेता तथा नेतृत्व (Leader and Leadership) – समाज में कुछ व्यक्ति ऐसे होते है जिनमें स्वयं निर्णय लेने की क्षमता नहीं होती ऐसे व्यक्ति दूसरों का अनुसरण करते है। ऐसी स्थिति में उचित नेतृत्व द्वारा उनके व्यवहारों को नियंत्रण में रखा जाता है। नेता समाज के लिए आदर्श होते है सभी उनके व्यवहार एवं आचरण का अनुसरण करते हैं। अतः जिस समाज में नेतृत्व स्वस्थ और संगठित होता है वहाँ व्यक्तियों का जीवन भी उतना ही अधिक नियंत्रित और संतुलित बना रहता है। अतः एक कुशल नेता के नेतृत्व में समाज में नियंत्रण एवं व्यवस्था बनी रहती है।

5. धर्म (Religion)– धार्मिक नियम सामाजिक व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने में महत्वपूर्ण योगदान देते है। व्यक्ति धार्मिक नियमों का पालन ईश्वरीय शक्ति के भय के कारण करता है। यह विश्वास किया जाता है कि धर्म के अनुसार आचरण न करना 'पाप' है और इसके अनुसार कार्य करना 'पुण्य' है। पाप का फल ईश्वरीय दण्ड या नरक है जबकि पुण्य का फल स्वर्ग है। इस प्रकार धर्म एक आन्तरिक अलौकिक प्रभाव के द्वारा व्यक्ति और समूह के व्यवहारों को नियंत्रित करता है। धर्म के अभाव में समाज में दुराचार, अनैतिकता व क्रूरता बढ़ने की अत्यधिक संभावना बनी रहती है। धर्म व्यक्ति को संयमी, नैतिक और शिष्टाचारी बनाता है।

6. जनरीतियां (Folkways) – समनर के अनुसार, ''जनरीतियां प्राकृतिक शक्तियों के समान होती है जिनका पालन व्यक्ति अचेतन रूप से करता रहता है।'' जनरीतियों का जन्म स्वतः होता है। कुछ जनरीतियां अधिक आवश्यक होती है तो कुछ कम। नमस्कार करना, पैर लगना, आवाज देकर घर में घुसना आदि कम महत्वपूर्ण जनरीतियां है दूसरी ओर सड़क के किनारे चलना, सड़क पर कूड़ा न फेकना आदि अधिक महत्वपूर्ण जनरीतियां है। जनरीतियों का संबंध शिष्टाचारपूर्ण आचरण से है जो व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करने का कार्य करती है। व्यक्ति यदि जनरीतियों की अवहेलना करते है तो सामान्यतः

आलोचना और निन्दा के रूप में उन्हें दण्डित किया जाता है।

7. प्रथाएं (Customs) – प्रथा के अन्तर्गत वे सभी आदर्श नियम आते है जिनके अनुसार व्यक्ति एक लम्बे समय से कार्य करते आ रहे है। प्रथाएं अर्थपूर्ण और अवैयक्तिक होती है। प्रथा के अन्तर्गत वे सभी व्यवहार आते है जिनका पालन पिछली अनेक पीढ़ियों द्वारा किया जाता रहा है। प्राचीनता के कारण इसकी अवेहलना करना सबसे बड़ा सामाजिक अपराध माना जाता है। यह सामाजिक नियंत्रण के महत्वपूर्ण सांस्कृतिक साधन है। बेकन ने प्रथाओं को 'मनुष्य के जीवन का प्रमुख दण्डाधिकारी' (The Principal magistrate of man's life) कहा है।

8. कानून (Law)– यह सामाजिक नियंत्रण का प्रचलित औपचारिक साधन है। कानून का कार्य समूह के लिए उपयोगी व्यवहारों को करने पर प्रोत्साहन देना ओर अवहेलना करने पर निश्चित दण्ड देना है। आदिम समाजों में कानून अलिखित लेकिन प्रभावकारी होते थे। वर्तमान में पूर्णतया लिखित और स्पष्ट होने के बावजुद भी इतने प्रभावशाली नहीं है, फिर भी कानून नियंत्रण का सर्वप्रमुख साधन है। रॉस (Ross) ने कानून को "सामाजिक नियत्रण का सबसे विशेषीकृत और पूर्ण साधन (most specialized and highly finished) माना है।

9. जनमत (Public Opinion)– जनमत का अर्थ है 'जनता की राय' अर्थात् जनमत से तात्पर्य उस सामूहिक चेतना से है जो जनता की सामान्य इच्छा के रूप में व्यक्त होती है। जनमत प्रशंसा और निन्दा के द्वारा व्यक्तियों के व्यवहारो पर नियंत्रण रखता है। सामान्य रूप में जब हम कोई व्यवहार करते है तो यह ध्यान रखते है कि दूसरे व्यक्ति उस व्यवहार के बारे में क्या राय रखते है। यही तथ्य जनमत को सामाजिक नियंत्रण का प्रमुख साधन बना देता है।

10.पुरस्कार तथा दण्ड (Reward and Punishment)– पुरस्कार द्वारा व्यक्ति को यह प्रेरणा दी जाती है कि वह समाज उपयोगी कार्य करता रहे जबकि दण्ड व्यक्ति को यह याद दिलाता है कि यदि वह सामाजिक नियमों की अवहेलना करेगा तो उसे नुकसान उठाना पड़ेगा। यह दोनों ही साधन सामाजिक नियंत्रण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है यद्यपि दोनों साधनों की प्रकृ ति पूर्णतया भिन्न है।

उपर्युक्त सामाजिक नियंत्रण को विधियों में से समाज नियंत्रण की स्थापना के लिए किन विधियों को उपयोग में लायेगा यह उस समाज के सामाजिक मूल्यों और संस्कृति पर निर्भर होता है। सामाजिक नियंत्रण आत्म नियंत्रण से पूर्णतया भिन्न है। सामाजिक नियंत्रण का संचालन समाज से व आत्म नियंत्रण

का संचालक व्यक्ति स्वयं है। दुर्खीम का मत है कि नियंत्रण समाज में निहित है और नियंत्रण संबंधी नियमों को अस्वीकार करने का अर्थ समाज को अस्वीकार करना है अर्थात् समाज में व्यवस्था ओर संगठन के लिए सामाजिक नियंत्रण एक आवश्यक शर्त है।

बोध प्रश्न 5

1. सामाजिक नियंत्रण के अभिकरण तथा साधन

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

8.11 सारांश

सामाजिक नियंत्रण में व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहार प्रतिमानों के अनुरूप आचरण करे। इस प्रकार सम्पूर्ण समाज में एकता एवं व्यवस्था बनाये रखने के लिए लोगों के व्यवहार का नियमन करना ही सामाजिक नियंत्रण है। औपचारिक व अनौपचारिक साधनों की सहायता से मनुष्य के व्यवहार को नियंत्रित करके समाज में व्यवस्था को बनाये रखा जाता है।

8.12 बोध प्रश्नो के उत्तर

बोध प्रश्न 1

भाग 8.2 देखें

बोध प्रश्न 2

भाग 8.3 देखें

बोध प्रश्न 3

भाग 8.7 देखें

बोध प्रश्न 4

भाग 8.9 देखें

बोध प्रश्न 5

भाग 8.10 देखें

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

Kingsley Davis, Human Society, p.63

Maclver and Page, Society, p.137

E.A. Ross, Social Control (1901)

T..Parsons, quoted by Johnson, Sociology, p. 581

Ogbum & Nimkoff, A Handbook of Sociology, p. 182

E.A. Ross, Social Control

Talcott Parsons, The Social System, p.30

W.G.Sumner,Folkways,p.134

स्वअध्ययन सामग्री

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

KeC[

3

सामाजिक प्रक्रिया एवं परिवर्तन

इकाई लेखक = डॉ0 रामचन्द्र असि. प्रोफेसर, समाजशास्त्र, एस एस बी पी जी कॉलेज, सुदिस्पुरी रानीगंज

इकाई –09 सहयोग एवं संघर्ष	135–148
इकाई –10 सात्मीकरण एवं प्रसार	149–158
इकाई –11 समाजीकरण एवं इसके प्रकार	159–180
इकाई –12 सामाजिक परिवर्तन एवं इसके प्रकार	181–206
इकाई –13 सामाजिक गतिशीलता	207–228

परामर्श समिति

प्रो0 सीमा सिंह, माननीय कुलपति, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज
कर्नल विनय कुमार, कुलसचिव, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज

पाठ्यक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)

प्रो0 संतोषा कुमार निदेशक, समाज विज्ञान विधाशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज
प्रो0 आशीष सक्सेना विभागाध्यक्ष,समाजशास्त्र विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय,प्रयागराज
प्रो0 महेश शुक्ला टी0 आर0 एस0 कालेज, ए0 पी0 एस0 विश्वविद्यालय,रीवाँ म0 प्र0।
डॉ0 रमेश चन्द्र यादव, असि प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, बैसवारा पी0 जी0 कालेज, लालगंज, रायबरेली।
डॉ0 सुचिता चतुर्वेदी, असि प्रोफेसर, (संविदा) समाजशास्त्र विभाग, समाज विज्ञान विधाशाखा।

इकाई लेखक= डॉ0 शशि पांडे असि.प्रोफेसर,समाजशास्त्र, एस.एस. खन्ना गर्ल्स डिग्री कॉलेज,प्रयागराज, इकाई = 1,2

इकाई लेखक = डॉ0 मनोज कुमार असि. प्रोफेसर, समाजशास्त्र (सं.) समाज विज्ञान विधाशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज,इकाई = 3,4

इकाई लेखक = डॉ0 अंजु बेनीवाल एसो. प्रोफेसर, समाजशास्त्र, राजकीय मीरा गर्ल्स कॉलेज, उदयपुर, राजस्थान इकाई = 5,6,7,8

इकाई लेखक = डॉ0 रामचन्द्र असि. प्रोफेसर, समाजशास्त्र, एस एस बी पी जी कॉलेज, सुदिस्त्पुरी रानीगंज, बलिया इकाई = 9,10,11,12,13

सम्पादक – प्रो0 आलोक कुमार कश्यप, समाजशास्त्र विभाग, महाराजा बलवंत सिंह पी0 जी0 कालेज, गंगापुर, वाराणसी

पाठयक्रम . समन्वयक डॉ0 मनोज कुमार असि प्रोफेसर,(सं.) समाज विज्ञान विधाशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज

2023 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज– 211021

ISBN-

सर्वाधिक सुरक्षित इस सामग्री के किसी भी अंश को उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुन: प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट: पाठ्यक्रम सामग्री मे मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आंकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन– उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज

प्रकाशक– कुलसचिव, कर्नल विनय कुमार उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज

मुद्रक: चन्द्रकला यूनिवर्सल प्रा0लि0, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज– 211002

इकाई–9– यहयोग एवं संघर्ष (Co-Opration & Confilct)

इकाई की रूरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 सहयोग एवं संघर्ष का अर्थ

9.3 सहयोग एवं संघर्ष की परिभाषाएँ

9.4 सहयोग एवं संघर्ष की विशेषताएँ

9.5 सहयोग एवं संघर्ष का महत्व

9.6 सारांष

9.7 बोध प्रष्न

9.8 वस्तुनिष्ठ प्रष्न

9.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

9.0 उद्देष्य Objective

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान सकेगें।

1. पाठ्यचर्या एवं पाठ्य पुस्तको में सहयोग एवं संघर्ष का अर्थ की व्याख्या कर सकेंगे।
2. सहयोग एवं संघर्ष की परिभाषा को समझ सकेगें ।
3. सहयोग एवं संघर्ष की विशेषताओं को समझ सकेगें।
4. सहयोग एवं संघर्ष के महत्व को समझ सकेगें।
5. सहयोग एवं संघर्ष के स्वरूप को समझ सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना Introduction

सामाजिक प्रक्रियाओं को सरल रूप से समझाने तथा समाज में इनके महत्व को स्पष्ट करने के लिए समाजशास्त्रियों ने इसके अनेक रूपों का उल्लेख किया है। कुछ विद्वानों ने सभी सामाजिक प्रक्रियाओं को सहयोगी (Associative) और असहयोगी (Dissociative) दो भागों में विभक्त किया है,

जबकि कुछ विचारकों ने इन्हीं को क्रमशः एकीकरण करने वाली और पृथक् करने वाली प्रक्रियाएँ कहा है। वास्तव में, सामाजिक प्रक्रियाओं को कुछ वर्गों में विभाजित कर देने से हमारे अध्ययन में और अधिक जटिलता आ सकती है, क्योंकि इन दोनों प्रकार की सभी प्रक्रियाओं का उल्लेख कर सकना भी बहुत कठिन है। विषय को समुचित रूप से समझने के लिए यह आवष्यक है कि हम केवल उन्हीं प्रक्रियाओं का विवेचन करें जिनकी सहायता से मानवीय अन्तर्क्रियाओं की वास्तविकता को सरल रूप से समझा जा सके। इस दृष्टिकोण से पार्क और बर्गेस नेप्रतिस्पर्धा, संघर्ष, समायोजन और सात्मीकरण आदि चार प्रक्रियाओं को विशेष महत्व दिया है। मैकाइवर और मर्टन ने इनके साथ सहयोग प्रतिकूलता को भी आधारभूत प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया है।

9.2 सहयोग एवं संघर्ष का अर्थ (Meaning of Co-operation & Conflict)

सामाजिक प्रक्रियाओं में सहयोग वह सबसे महत्वपूर्ण प्रक्रिया है जो व्यक्तियों को एक–दूसरे की सहायता से अपने हितों को पूरा करने की प्रेरणा देकर समाज को संगठित बनाती है। सच तो यह है कि सहयोग की प्रक्रिया जीवन के प्रत्येक स्तर पर विद्यमान होती है, इसका रूप चाहे प्रत्यक्ष हो अथवा अप्रत्यक्ष सहयोग के बढ़ते हुए महत्व का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि आज से कुछ समय पहले तक जो सहयोग केवल परिवार या गाँव के अन्दर ही देखने को मिलता था, वह आज राष्ट्र से भी बाहर निकलकर अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है। इसी प्रकार महत्वपूर्ण लक्ष्यों को पूरा करने का प्रयत्न करता है।

संघर्ष एक सामाजिक प्रक्रिया होने के बाद भी सहयोग की प्रक्रिया से पूर्णतया भिन्न है। यह एक पृथकतावादी प्रक्रिया disintegrative process है। इसके पश्चात् भी कोई समाज ऐसा नहीं होता जिसमें संघर्ष की प्रक्रिया किसी–न–किसी रूप में विद्यमान न रहती हो। साधारण शब्दों में कहा जा सकता है कि जब कुछ व्यक्तियों अथवा समूहों के बीच समझौते की कोई संम्भावना नहीं रह जाती, प्रतिस्पर्धा अनियन्त्रित हो जाती है, व्यक्ति एक–दूसरे को हानि पहुँचाकर भी अपने हितों को पूरा करने का प्रयत्न करने लगते हैं और समाज के आदर्श नियम व्यक्ति के जीवन पर अधिक नियन्त्रण नहीं रख पाते, तब ऐसे समाज में संघर्ष की प्रक्रिया आवष्यक रूप से उत्पन्न हो जाती है । इसका तात्पर्य है कि संघर्ष एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों की इच्छाओं का दमन करके अथवा उन्हें हानि पहुँचाकर शक्ति के द्वारा भी अपने हितों को पूरा करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार संघर्ष में क्रोध और घृणा

की भावना ही नहीं, बल्कि क्रूरता, उत्पीड़न और हिंसा जैसे तत्वों का भी समावेष होता है। संघर्ष इस अर्थ में एक चेतन प्रक्रिया है कि इसके अन्तर्गत एक व्यक्ति दूसरे पक्ष की स्थिति का बहुत अच्छी तरह मूल्यांकन करके उस पर अपना प्रभाव स्थापित करने की कोशिश करता है।

9.3 सहयोग एवं संघर्ष की परिभाषाएँ (Definitions of Co-operation & Conflict)

किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) के अनुसार,"एक सहयोगी समूह वह है, जो ऐसे लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मिलकर प्रयत्न करता है जिसे सभी चाहते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि सहयोग सदैव प्रतिस्पर्धा का विरोधी नहीं होता। जीवन में अनेक कार्य इस प्रकार के होते हैं जिनमें सफलता प्राप्त करने के लिए व्यक्तियों में प्रतिस्पर्धा का होना भी

आवष्यक हो जाता है। ऐसी प्रतिस्पर्धा भी बहुत–से व्यक्तियों को एक दूसरे से सहयोग करने की प्रेरणा देती है। इसके बाद भी यह ध्यान आवष्यक है कि एक लक्ष्य का होना सहयोग का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है। एक लक्ष्य ही सहयोग करने वाले व्यक्तियों को एक दूसरे से बाँधे रखते हैं।

प्रो. ग्रीन(A. W. Green) ने सहयोग को परिभाषित करते हुए लिखा है, सहयोग दो या दो से अधिक व्यक्तियों द्वारा कोई कार्य करने अथवा सामान्य रूप से किसी लक्ष्य तक पहुंचने के लिए किया जाने वाला निरन्तर और सामूहिक प्रयत्न है। इस परिभाषा से सहयोग की तीन विषेशताओ पर प्रकाश पड़ता है– (क) एक सामान्य लक्ष्य, (ख) इसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न (ग) सामूहिकता। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि सहयोग एक सामूहिक घटना है जिसके अन्तर्गत बहुत–से व्यक्ति एक लक्ष्य को पाने के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं।

फेयर चाइल्ड (Fairchild) के शब्दों में, सहयोग वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा अनेक व्यक्ति अथवा समूह एक सामान्य लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अपने प्रयत्नों को एक–दूसरे से सम्बद्ध का लेते हैं। इसका तात्पर्य गिलिन और **गिलिन** के शब्दों में, संघर्ष एक सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें विभिन्न व्यक्ति अथवा समूह अपने विरोधियों को हिंसा द्वारा अथवा हिंसा की धमकी देकर अपने लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं । इसका तात्पर्य है कि संघर्ष की प्रक्रिया में हिंसा का होना सदैव अनिवार्य नहीं होता, लेकिन इसके विकल्प के रूप में उत्पीड़न अथवा धमकी का समावेष अवश्य होता है।

प्रो. ग्रीन के अनुसार, संघर्ष एक ऐसा प्रयत्न है जिसमें किसी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की जान–बूझकर विरोध किया जाता है, उनकी इच्छाओ को दबाया जाता है अथवा उत्पीड़ित किया जाता है । इस दृष्टिकोण से संघर्ष की प्रक्रिया सहयोग से इस अर्थ में भिन्न है कि इसके अन्तर्गत अनेक ऐसी विधियों को प्रयोग में लाया जाता है तो साधारणतया समाज द्वारा स्वीकृत नहीं होती। किंग्सले डेविस का कथन है कि प्रतिस्पर्धा जब आदर्श नियमों की सीमा से बाहर निकल जाती हैं, तब इस स्थिति को संघर्ष कहा जाता है। इसका तात्पर्य है कि प्रतिस्पर्धा और संघर्ष दोनों ही प्रक्रियाओं में एक पक्ष दूसरे को अपने नियन्त्रण में करने का प्रयत्न करता है । अन्तर केवल इतना है कि प्रतिस्पर्धा में नैतिक नियमों का समावेष रहता है, जबकि संघर्ष में नैतिक नियमों की अवहेलना होने लगती है।

संक्षेप में, सहयोग सामाजिक अन्तर्क्रिया का वह रूप है जिसमें कुछ व्यक्ति एक सामान्य लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए साथ–साथ कार्य करते हैं और इस चेतना से प्रभावित रहते हैं कि वास्तव में वे सब एक हैं। यह स्थिति उनमें पारस्परिक सहायता, एकता और त्याग की भावनाओं को उत्पन्न करता है जो सहयोग की आधारभूत विशेषताएँ हैं।

9.4 सहयोग एवं संघर्ष की विषेषताएँ (Characteristics of Co-operation & Conflict)

विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर सहयोग की अनेक विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं। इन विशेषताओं को संक्षेप में निम्न प्रकार समझा जा सकता है–

- **मान्यता प्राप्त प्रक्रिया (Recognition Process)**–सामाजिक प्रक्रियाओं में सहयोग एक ऐसी प्रक्रिया है, जो अनेक व्यक्तियों अथवा समूहों को एक मान्यता प्राप्त दिशा में कार्य करने का प्रोत्साहन देती है। यह सच है कि समाज में सहयोगी तथा असहयोगी, दोनों प्रकार के सम्बन्धों का समावेष होता है लेकिन सहयोग वह महत्वपूर्ण आधार है, जो सामाजिक जीवन को संगठित बनाता है। इस दृष्टिकोण से सहयोग को एक मान्यता प्राप्त सामाजिक प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है।

- **सामान्य लक्ष्य (Comman Goal)**–सहयोग की प्रक्रिया केवल तभी प्रभावपूर्ण बन पाती है जब सहयोग कार्य वाले व्यक्तियों के सामने एक स्पष्ट लक्ष्य होता है। यह लक्ष्य प्रत्येक स्थिति में व्यक्तियों को एक–दूसरे से बाँधे रखता है तथा उन्हें संगठित रूप से कार्य करने की प्रेरणा देता है। जब कभी भी वह लक्ष्य पूरा हो जाता है अथवा इसके प्रति व्यक्ति उदासीन हो जाते है, सहयोग की

प्रक्रिया भी दुर्बल पड़ जाती है।

- **निरन्तरता (Continuity)–** सहयोग की एक प्रमुख विशेषता इसमें निरन्तरता का गुण होना है। कोई समाज सरल हो अथवा जटिल हो, छोटा हो अथवा बड़ा, प्रत्येक समाज में सहयोग की प्रक्रिया किसी–न–किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहती है। सभी सामाजिक संगठनों तथा संस्थाओं का अन्तिम उद्देश्य सहयोग की प्रक्रिया की निरन्तरता को बनाये रखना ही होता है।

- **सामूहिकता (Collective Co-operation)–**सहयोग का तात्पर्य केवल दो चार व्यक्तियों द्वारा एक–दूसरे को समर्थन देना अथवा मिल–जुलकर कार्य करना नहीं है। इस प्रक्रिया में सामूहिकता का गुण है। इसका तात्पर्य है कि जब तक बहुत–से व्यक्ति एक

साथ मिलकर किसी लक्ष्य को पाने का प्रयत्न न करें, तब तक सहायोग की प्रक्रिया क्रियाशील नहीं हो सकती। सहयोग जितने बड़े संगठनों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है, समाज में उतना ही अधिक स्थायित्व और संगठन उत्पन्न हो जाता है।

- **ऐच्छिक सहभाग –** सहयोग की प्रक्रिया में कभी भी दबाव अथवा बाध्यता का तत्व नहीं होता । यदि कोई व्यक्ति उत्पीड़न अथवा प्रलोभन के द्वारा कुछ व्यक्तियों को किसी विशेष कार्य के लिए सहयोग देने को बाध्य करे तो समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से ऐसे सहभाग को सहयोग नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत बहुत से व्यक्ति जब अपनी इच्छा से एक–दूसरे की सहायता करते हुए लक्ष्य को पाने का प्रयत्न करते हैं और इस चेतना से प्रभावित रहते हैं कि वे सब एक हैं, तभी इस प्रक्रिया को हम सहयोग की प्रक्रिया कहते हैं ।

- **कुशलता का समावेष–** कुछ व्यक्ति यदि मिल–जुलकर कार्य करने के उपरान्त भी अपने कार्य को पहले से अधिक संगठित रूप से न कर सकें, तब इसे भी सहयोग की दशा नहीं कहा जा सकता । सहयोग की प्रक्रिया में कुशलता की वृद्धि का तत्व छिपा होता है तथा इसका उद्देश्य एक विशेष समूह के जीवन को पहले से अधिक संगठित और व्यवस्थित बनाना होता है ।

- **विविधता (Diversity) –** सभी अवसरों और सभी दशाओं में सहयोग का एक रूप एक–दूसरे के पूर्णतया समान नहीं होता । सहयोग प्रत्यक्ष भी हो सकता है और अप्रत्यक्ष भी, इसका क्षेत्र सीमित भी हो सकता है अथवा बहुत व्यापक भी, यह केवल कुछ समय के लिए हो सकता है अथवा इसका प्रभाव अत्यधिक

स्थायी भी हो सकता है । इस दृष्टिकोण से विद्वानों ने सहयोग के अनेक स्वरूपों का उल्लेख किया है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि संघर्ष की प्रक्रिया में अनेक ऐसी विशेषताएँ विद्यमान हैं जिनके आधार पर इसे अन्य प्रक्रियाओं से पृथक किया जा सकता है।

- **बल–प्रयोग का समावेष (Inveolvement of force) –** संघर्ष की प्रक्रिया में बल–प्रयोग का आवष्यक रूप से समावेष होता है। यह बल–प्रयोग किसी भी रूप में हो सकता है, यह चाहे हिंसा या हिंसा की धमकी के रूप में हो अथवा उत्पीड़न अथवा बदले के रूप में हो। इसका तात्पर्य है कि संघर्ष की प्रक्रिया केवल तभी उत्पन्न होती है जब संघर्ष करने वाले दो या दो से अधिक पक्ष एक–दूसरे से समायोजन करने की पूर्णतया असफल हो चुके हैं।

- **चेतन प्रक्रिया (Conciouseness process)–**संघर्ष की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इससे सम्बन्धित दोनों पक्ष एक–दूसरे की स्थिति के प्रति बहुत अधिक जागरूक होते हैं। वे एक–दूसरे की शक्ति और साधनों की अधिक–से–अधिक जानकारी करके उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की कोशिश करते हैं।

- **प्रत्यक्ष सम्बन्ध (Direct Relation)–**संघर्ष में लगे दो व्यक्तियों अथवा दो समूहों के सम्बन्ध सदैव प्रत्यक्ष होते हैं। कोई भी दो समूह अथवा व्यक्ति एक–दूसरे से बहुत दूर रहकर केवल भावनात्मक आधार पर संघर्ष नहीं कर सकते। संघर्ष के लिए दोनों पक्षों का एक–दूसरे से समीप होना आवष्यक है।

- **परस्पर विरोधी स्वार्थ (Conflicting Interest)–** संघर्ष सदैव उन्हीं पक्षों के बीच होता है जिनके स्वार्थ एक–दूसरे से भिन्न होते हैं तथा दोनों पक्ष एक–दूसरे के ऊपर अपनी शर्तें लादने का प्रयत्न करते हैं। जब कभी भी स्वार्थों की यह भिन्नता कम हो जाती है, संघर्ष की प्रक्रिया का प्रभाव भी कम होने लगता है। यह परस्पर विरोधी स्वार्थ केवल वैचारिक स्तर पर ही नहीं होते, बल्कि भौतिक साधनों को प्राप्त करने से भी सम्बन्धित होते हैं।

- **वैयक्तिकता (Individuality)–** संघर्ष की प्रकृति हमेशा वैयक्तिक होती है। इसका तात्पर्य है कि संघर्ष के अन्तर्गत हम किसी विशेष व्यक्ति अथवा विशेष समूह से संघर्ष कर रहे होते हैं, सामान्य व्यक्तियों से नहीं। यही कारण है कि संघर्ष जिन पक्षों के बीच चल रहा होता है, उनका तीसरे पक्ष से कोई विशेष लगाव नहीं होता । सामान्य व्यक्तियों की भी किसी संघर्ष में केवल तभी रुचि होती है जब यह संघर्ष जातीय अथवा राष्ट्रीय स्तर का हो।

- **अस्थायित्व (Permanence)**– संघर्ष बहुत लम्बे समय तक चलने वाली एक स्थायी प्रक्रिया नहीं है, बल्कि यह कुछ समय के लिए उत्पन्न होने वाली एक अस्थायी प्रक्रिया है । इसका कारण यह हैं कि दो पक्षों का निरन्तर हिंसक बने रहना बहुत कम सम्भव हो पाता है। संघर्ष में अवसरवादिता की विशेषता पायी जाती है। एक पक्ष जब कभी भी दूसरे पक्ष पर अपना प्रभाव स्थापित करने की स्थिति में होता है, तभी वह उससे संघर्ष करना आरम्भ कर देता है। इसके अतिरिक्त संघर्ष की प्रक्रिया जितने समय रहती भी है, उसमें समान तीव्रता नहीं रहती । यह कभी शिथिल हो जाती है तो कभी बहुत तेज हो जाती है।

- **विविधता (Diversity)**–प्रत्येक स्थिति में संघर्ष की प्रक्रिया समान रूप में देखने को नहीं मिलती। संघर्ष प्रत्यक्ष भी हो सकता है और अप्रत्यक्ष भी, यह व्यक्तिगत हो सकता है अथवा सामूहिक तथा इसका प्रसार एक छोटे समूह से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक हो सकता है।

- **एक सामाजिक प्रक्रिया (Social Process)**–संघर्ष यद्यपि विभिन्न समूहों को एक–दूसरे से पृथक् करने वाली प्रक्रिया है, लेकिन तब भी यह एक सामाजिक प्रक्रिया है । इसका कारण यह कि संघर्ष की प्रक्रिया समाज के किसी–न–किसी भाग में सदैव विद्यमान ही नहीं रहती, बल्कि अनेक अवसरों पर समाज के लिए लाभप्रद भी सिद्ध होती है। इसका विस्तृत विवेचन हम संघर्ष के महत्व की विवेचना के अन्तर्गत करेंगे ।

सहयोग एवं संघर्ष के स्वरूप(Forms of Co-operation & Conflict)

मैकाइवर तथा **पेज** ने सहयोग को दो मुख्य भागों में विभाजित किया है– प्रत्यक्ष सहयोग तथा अप्रत्यक्ष सहयोग । जब अनेक व्यक्ति अथवा समूह आमने–सामने के सम्बन्धों के द्वारा मिल–जुलकर कार्य करते हैं, तब इसे प्रत्यक्ष सहयोग कहा जाता है। खेल के मैदान में टीम के खिलाड़ियों द्वारा एक–दूसरे को दिया जाने वाला सहयोग अथवा एक सांस्कृतिक समारोह में कुछ व्यक्तियों द्वारा भाग लेना प्रत्यक्ष सहयोग के उदाहरण हैं। सहयोग का रूप अप्रत्यक्ष तब होता है जब सहयोग करने वाले व्यक्तियों का उद्देश्य तो समान होता है, लेकिन इस उद्देश्य को वे भिन्न–भिन्न कार्यों द्वारा पूरा करते हैं । श्रम – विभाजन अप्रत्यक्ष सहयोग का सर्वोत्तम उदाहरण है जिसमें बहुत–से व्यक्ति असमान कार्यों को करते हुए भी एक ही उद्देश्य की पूर्ति में लगे होते हैं।

- **ऑगबर्न** और **निमकॉफ** ने सहयोग के तीन स्वरूपों का उल्लेख किया है – (क) सामान्य सहयोग, (ख) मित्रवत् सहयोग तथा (ग) सहायतामूलक

सहयोग । जब समान मनोवृत्ति के कुछ व्यक्ति मिलकर एक समान कार्य करने का प्रयत्न करते हैं तो इसे सामान्य सहयोग कहा जाता है। मित्रवत् सहयोग वह है जिसमें एक–दूसरे से सहयोग करने का उद्देश्य किसी विशेष अवसर पर सुख तथा आनन्द को प्राप्त करना होता है। समूह नृत्य, समूह गान अथवा समूह – भ्रमण ऐसे सहयोग के उदाहरण हैं। सहायतामूलक सहयोग वह है जो कुछ व्यक्तियों द्वारा किसी विपत्ति अथवा विषेश अवसर पर एक–दूसरे को दिया जाता है। बाढ़ पीड़ितों की सहायता के लिए कार्य करना अथवा सामूहिक रूप से श्रमदान करना इसी प्रकार का सहयोग है।

- **प्रो. ग्रीन** ने सहयोग के समय विभिन्न व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों को ध्यान में रखते हुए सहयोग को तीन भागों में विभाजित किया है – (क) **प्राथमिक सहयोग,** (ख) **द्वितीयक सहयोग** और (ग) **तृतीयक सहयोग** । प्राथमिक सहयोग का विशेष सम्बन्ध प्राथमिक समूहों से है। इन समूहों में सहयोग करने वाले व्यक्ति समूह के कल्याण को ही अपना कल्याण समझते हैं । द्वितीयक सहयोग वह है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति एक–दूसरे से इसलिए सहयोग करते हैं जिससे उनके अपने हितों की पूर्ति हो सके। कारखानों के मालिकों और श्रमिकों के बीच पाया जाने वाला सहयोग इसी श्रेणी के अन्तर्गत आता है। सहयोग का रूप यदि अवसरवादी होता है और इसका उद्देश्य कुछ समय के लिए अन्य व्यक्तियों अथवा समूहों से समायोजन करना होता है तो इसे तृतीयक सहयोग कहा जाता है। विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा कुछ समय के लिए एक–दूसरे को सहयोग देना सहयोग के इस स्वरूप का उदाहरण है।

विभिन्न स्थानों तथा भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में संघर्ष का रूप एक–दूसरे से अत्यधिक भिन्न देखने को मिलता है। साधारणतया संघर्ष को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जैसे दो महत्वपूर्ण भागों में विभाजित किया जाता है। संघर्ष प्रत्यक्ष तब होता है जब दो या दो से अधिक व्यक्ति अथवा समूह एक–दूसरे के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आकर संघर्ष आरम्भ कर देते हैं। युद्ध, क्रान्ति, साम्प्रदायिक झगड़े तथा विवाह विच्छेद आदि प्रत्यक्ष संघर्ष के उदाहरण हैं। अप्रत्यक्ष संघर्ष वह है जिसमें एक पक्ष अप्रत्यक्ष से कुछ व्यक्तियों के हितों में बाधा उत्पन्न करके अपने हितों को पूरा करने का प्रयत्न करता है। संघर्ष का यह स्वरूप वर्तमान शीत जगत् (cold world) की एक प्रमुख विशेषता है। डेविस ने संघर्ष के इन्हीं रूपों को 'आंशिक संघर्ष' के नाम से सम्बोधित किया है। आंशिक संघर्ष वह है जिसमें किसी विशेष लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए तो कुछ व्यक्तियों अथवा समूहों में समझौता हो गया हो, लेकिन उन्हें प्राप्त करने के साधनों को लेकर उनके बीच विवाद चलता रहता हो। इसके विपरीत, पूर्ण संघर्ष का तात्पर्य ऐसी स्थिति से

है जिसमें व्यक्ति अथवा समूह शारीरिक शक्ति के द्वारा ही अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

संघर्ष की व्यापकता के आधार पर इसे अन्य भागों में विभाजित किया जा सकता है– (क) व्यक्तिगत संघर्ष, (ख) प्रजातीय संघर्ष, (ग) राजनीतिक संघर्ष तथा (घ) अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष । व्यक्तिगत संघर्ष का तात्पर्य व्यक्ति का व्यक्ति से अथवा किसी समूह का दूसरे समूह से संघर्ष होना है। प्रजातीय संघर्ष आज अमेरिका, अफ्रीका तथा यूरोप के कुछ अन्य दशों में बहुत स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है । यह संघर्ष काले और गोरे के भेद को लेकर बहुत व्यापक बन गया है। राजनीतिक संघर्ष की दशा चुनावों के दौरान विभिन्न दलों के बीच होने वाले संघर्षों के रूप में देखने को मिलती है । अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का रूप विश्व के तीन प्रमुख गुटों – अमेरिका, रूस और तृतीय विश्व के बीच स्पष्ट हो रहा है जिनके कारण तृतीय महायुद्ध तक की सम्भावना हो गयी है । सामाजिक दृष्टिकोण से संघर्ष के दो अन्य स्वरूपों का भी उल्लेख किया जा सकता है– (क) जातीय संघर्ष तथा (ख) वर्ग संघर्ष भारत में सवर्णों तथा निम्न जातियों के बीच होने वाला संघर्ष जातीय संघर्ष का उदाहरण है।

ऐसे संघर्ष का आरम्भ जातिवाद की भावना से होता है। वर्ग संघर्ष आज विश्व के लगभग सभी समाजों में पाया जाता है । साधारणतया प्रत्येक समाज उच्च, मध्यम और निम्न जैसे तीन प्रमुख वर्गों में विभाजित होता है। प्रत्येक वर्ग अपने से निम्न वर्ग का शोषण करने का प्रयत्न करता है जिसके फलस्वरूप वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया बहुत तेज हो जाती है।

9.5 सहयोग एवं संघर्ष का महत्व (Imoprtance of Co-operation & Conflict)

सहयोग की प्रक्रिया सामाजिक जीवन के संगठन और विकास का आधार है। यह सच है कि समाज में प्रत्येक अवसर पर सहयोग नहीं पाया जा सकता कुछ अवसरों पर संघर्ष में भी वृद्धि हो सकती है, लेकिन इतना अवश्य है कि संघर्ष केवल एक अस्थायी तत्व है, जबकि सहयोग स्थायी । संघर्ष कुछ समय के लिए सामाजिक संगठन में पड़ने वाली बाधा है, जबकि सहयोग सामाजिक संगठन का आधार है। बोगार्डस (Bogardus) ने तो सहयोग और पारस्परिक सहायता (Mutual aid) में कुछ अन्तर ही स्वीकार नहीं किया है। सामाजिक जीवन में सहयोग के महत्व को निम्नांकित प्रमुख क्षेत्रों में स्पष्ट किया जा सकता है–सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रगति के क्षेत्र में सहयोग की प्रक्रिया का महत्व सबसे अधिक है। मानव संस्कृति के आरम्भिक युग से ही विभिन्न समूह एक–दूसरे से सहयोग करके संस्कृति को इस स्तर तक पहुँचा सके। आविष्कार

किसी एक व्यक्ति की सम्पदा नहीं होते, बल्कि सैकड़ों व्यक्तियों के सहयोग से ही वे उपयोगी रूप ग्रहण कर पाते हैं। मानवशास्त्रीय (anthropological) अध्ययन यह स्पष्ट करते हैं कि आदिम–से–आदिम समाज के सांस्कृतिक जीवन में भी सहयोग सबसे प्रमुख तत्व रहा है । यही कारण है कि आदिम समाज की सांस्कृतिक परम्पराएँ प्रगतिशील समाजों की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित और सुदृढ़ होती हैं। सहयोग की भावना से ही व्यक्तिवाद के स्थान पर सामूहिक कल्याण के प्रति व्यक्तियों में निष्ठा उत्पन्न होती है और यही स्थिति सामाजिक प्रगति को सम्भव बनाती है । सहयोग सामूहिकता का आधार है। मैरिल और एलड्रिज (Merrill and Eldridge) सहयोग के महत्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि सहयोग एक सामान्य उद्देश्य के लिए व्यक्तियों को साथ–साथ काम करने की प्रेरणा प्रदान करता है, किसी वैयक्तिक उद्देश्य के लिए अलग–अलग रहकर कार्य करने की नहीं। सामान्य उद्देश्य के आधार पर साथ–साथ कार्य करना सामूहिकता की भावना में वृद्धि करना है जिससे समाज को अधिक स्थायित्व प्राप्त होता है। सामूहिक जीवन के फलस्वरूप समान मनोवृत्तियों, समान आकांक्षाओं और समान समस्याओं का जन्म होता है। ये सभी परिस्थितियाँ समाज को अधिक संगठित बनाने और उसे संघर्ष से बचाने में महत्वपूर्ण हैं ।

साधारणतया यह समझा जाता है कि संघर्ष एक असहयोगी और पृथक्करण करने वाली सामाजिक प्रक्रिया है, अतः यह समाज के लिए अवांछित है । यह सच है कि संघर्ष की प्रक्रिया तरह–तरह के तनावों, विरोध और हिंसा को जन्म देती है, लेकिन समाज के विकास तथा सामाजिक संगठन में भी इस प्रक्रिया का योगदान बहुत महत्वपूर्ण होता है । यही कारण है कि मानव सभ्यता के विकास के आरम्भिक काल से लेकर आज तक यह प्रक्रिया सभी समाजों में पायी जाती है । इतिहास बताता है कि युद्ध की दशा में यह प्रक्रिया विभिन्न धर्मों, भाषाओं और क्षेत्रों के लोगों को एकता के सूत्र में बांधने में बहुत सहायक होती रही है। एक ही देश के अन्दर जब विभिन्न आन्दोलनों के रूप में संघर्ष की दशा पैदा होती है, तब सामाजिक असमानताएँ कम होने लगती हैं। सामाजिक सुधार को प्रोत्साहन देने में भी इस प्रक्रिया का विषेश योगदान होता है। इसका अर्थ है कि संघर्ष की प्रक्रिया व्यक्तियों को जागरूक बनाकर सामाजिक एकीकरण को बढ़ाती है। इसी आधार पर यूटर और हार्ट (Reuter and Hart) ने लिखा है, ''संघर्ष आत्म – चेतना और सामूहिक चेतना का आधार है। साथ ही यह इनके विकास का कारण भी है।'' विभिन्न क्षेत्रों में संघर्ष की सामाजिक भूमिका को अग्रांकित रूप से समझा जा सकता है।

- **सामाजिक एकीकरण में वृद्धि –** डेविस का कथन है कि अनेक दशाओं में संघर्ष एक पृथकतावादी प्रक्रिया न रहकर एकीकरण करने वाली प्रक्रिया बन जाती है। इसका कारण यह है कि विशेष दशाओं में. जब समाज को सहयोग

के आधार पर संगठित करना सम्भव नहीं रह जाता, तब अक्सर संघर्ष की सहायता से समाज की अनेक बुराइयों को दूर करना सम्भव हो जाता है। उदाहरण के लिए, यह आवष्यक नहीं है कि एक कारखाने में केवल सहयोग के द्वारा ही श्रमिकों को उनके उचित अधिकार मिल सकें । संघर्ष के द्वारा उन्हें वे सुविधाएँ प्राप्त हो जाती हैं जिनके वे वास्तव में अधिकारी हैं। कोजर (Coser) उन प्रमुख विद्वानों में से एक हैं जो यह मानते हैं कि समूह में आन्तरिक एकता और संगठन को बनाए रखने के लिए संघर्ष सबसे आवष्यक दशा है।

- **सामूहिकता में वृद्धि** –संघर्ष की दशा में विभिन्न समूहों और व्यक्तियों को जिन नई समस्याओं का सामना करना पड़ता है, उनके फलस्वरूप वे अपने व्यवहार के ढंगों पर पुनः विचार करने लगते हैं। इससे समान भावनाएँ और विचार विकसित होते हैं। यही दशा सामूहिकता में वृद्धि करती है।

- **शक्ति का संतुलन** – कोजर का कथन है कि समाज में शक्ति के सन्तुलन को बनाए रखने में संघर्ष की एक उपयोगी भूमिका होती है। इसका तात्पर्य है कि शासक वर्ग के पास जहाँ कानूनों और सत्ता की शक्ति होती है, वहीं जनसाधारण के पास संख्या और संघर्ष की शक्ति होती है। इसी के फलस्वरूप शासक वर्ग अपनी शक्ति का दुरुपयोग नहीं कर पाता। संघर्ष के भय के कारण ही पूँजीपति श्रमिकों का शोषण नहीं कर पाते । संघर्ष की सम्भावना को दूर करने के लिए ही सरकार ऐसे कार्यक्रम लागू करती है जो जन–साधारण के हित में हों। स्पष्ट है कि संघर्ष की प्रक्रिया लोगों में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता पैदा करके समाज में शक्ति के संतुलन को बनाए रखती है।

- **व्यक्तित्व के विकास का आधार – मैकाइवर** ने लिखा है कि व्यक्तित्व के निर्माण और विकास में संघर्ष की एक महत्वपूर्ण भूमिका है। आंतरिक रूप से हमारी जीव–रचना में अनेक ऐसी क्षमताएँ हैं जिनका समुचित उपयोग करने से ही व्यक्तित्व का विकास सम्भव नहीं हो पाता है। किसी समाज में जब संघर्ष की प्रक्रिया प्रभावपूर्ण बनती है, तब व्यक्ति अपनी आंतरिक क्षमताओं का अधिक–से–अधिक उपयोग करने लगते हैं। इससे लोगों में अनुकूलन, आत्मसात् तथा निर्भीकता के गुण बढ़ते हैं । यही गुण व्यक्तित्व के वास्तविक आधार हैं। संघर्ष की प्रक्रिया व्यक्तियों को अपनी परिस्थितियों से जूझने का अवसर देकर उन्हें अधिक परिश्रमी बनाती है ।

- **सामाजिक विकास का आधार–कार्ल मार्क्स** (Karl Marx) ने संघर्ष के महत्व को स्वीकार करते हुए यहाँ तक लिखा है कि ''मानव जीवन के विकास का सम्पूर्ण इतिहास वर्ग–संघर्ष का ही इतिहास है ।'' इसका तात्पर्य है कि आदिम सभ्यता से आज की विकसित सभ्यता तक पहुँचना संघर्ष के द्वारा ही सम्भव हो

सका। जब कभी भी विभिन्न समूहों अथवा वर्गों के बीच संघर्ष होता है, तब एक ऐसी नई व्यवस्था का प्रादुर्भाव होता है जिसमें संघर्ष की सम्भावना कम–से–कम हो । यही दशा सामाजिक विकास का वास्तविक आधार है।

• **सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण –मैरिल तथा एलरिज** (Merrill and Eldridge) में एक– दूसरे आधार पर संघर्ष के महत्व को स्पष्ट किया। आपके अनुसार समाज की सबसे बड़ी आवष्यकता व्यक्तियों को उनकी योग्यता और कुशलता के आधार पर एक विशेष प्रस्थिति मिलना है। संघर्ष वह प्रक्रिया है जो विभिन्न आधारों पर इस बात का निर्धारण करती है कि कौन व्यक्ति अथवा समूह कितना अधिक योग्य, कुशल एवं शक्तिशाली है। इससे समाज में व्यक्ति की प्रस्थितियों का निर्धारण एक स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में होता है। अनेक विद्वान **मैरिल** के इस कथन से सहमत नहीं हैं, लेकिन आधुनिक समाजों में होने वाले संघर्ष पूरी तरह अनियन्त्रित नहीं होते । फलस्वरूप संघर्ष की क्षमता अक्सर व्यक्ति की योग्यता की कसौटी बन जाती है। **मैकाइवर** ने समाज में संघर्ष के महत्व को स्पष्ट करने के लिए ही यह निष्कर्ष दिया है ''समाज संघर्ष मिश्रित सहयोग है'' (Society is co & operation crossed by conflict)। सामाजिक जीवन में संघर्ष के महत्व को देखते हुए अब समाजशास्त्र में एक नये सिद्धान्त का विकास हुआ है जिसे 'संघर्ष का सिद्धान्त' (Conflict Theory) कहा जाता है। यह सिद्धान्त बताता है कि वर्तमान युग में संघर्ष का रूप संस्थागत हो गया है। इसका तात्पर्य है कि अनेक संगठनों तथा नियमों के द्वारा संघर्ष को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया जाता है जिससे इसे एक लाभकारी साधन के रूप में उपयोग में लाया जा सके। यही कारण है कि आज संघर्ष को सदैव एक विघटनकारी प्रक्रिया के रूप में ही नहीं देखा जाता ।

9.6 सारांष (Summary)

सामाजिक एकता सहयोग पर ही निर्भर है। यह सर्वविदित है कि किसी भी समाज में पूर्ण एकता नहीं पाई जा सकती, क्योंकि कुछ–न–कुछ अंशों में सभी सदस्यों में कुछ मतभेद अवश्य पाया जाता है सहयोग की प्रक्रिया पारस्परिक मतभेद को मानसिक रूप में गौण बनाकर एकता को प्रोत्साहन देती है। और व्यक्तियों को एक–दूसरे के कार्य में भाग लेने की प्रेरणा प्रदान करती है। सामाजिक व्यवस्था के सभी अंग सहयोग के कारण ही एक–दूसरे से परस्पर सम्बन्धित हैं। वास्तविकता तो यह है कि सहयोग प्रत्येक स्तर पर विद्यमान रहता है, इसका रूप चाहे प्रत्यक्ष हो अथवा अप्रत्यक्ष ।

समनर ने प्रतिस्पर्धा दशाओं में भी सहयोग को समाज की आवष्यक स्थिति माना है। इसका अर्थ है कि बाह्य रूप में समाज में कितनी भी प्रतिस्पर्धा क्यों न हो, लेकिन यह प्रतिस्पर्धा भी तब तक प्रभावपूर्ण नहीं हो सकती जब तक कुछ

व्यक्ति एक–दूसरे को उनके कार्यों में सहयोग न दे रहे हों । इसका तात्पर्य यह है कि प्रतिस्पर्धा के लिए भी सहयोग आवष्यक है। व्यक्ति सहयोग के कारण ही अपने स्वार्थों पर कुछ सीमा तक अंकुश रखकर संयुक्त रूप से कार्य करने का प्रयत्न करते हैं और यही प्रवृत्ति सहयोग को स्थायी तथा संघर्ष को अस्थायी तत्व बनाने में सहायक होती है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सहयोग का महत्व पारिवारिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक पक्षों में समान रूप से महत्वपूर्ण है। सहयोग सामाजिक जीवन की अनिवार्य दशा है और इसमें अधिक–से–अधिक पूर्णता लाना ही सामाजिक सफलता का आधार है।

यह सच है कि संघर्ष की प्रक्रिया तरह–तरह के तनावों, विरोध और हिंसा को जन्म देती है, लेकिन समाज के विकास तथा सामाजिक संगठन में भी इस प्रक्रिया का योगदान बहुत महत्वपूर्ण होता है । यही कारण है कि मानव सभ्यता के विकास के आरम्भिक काल से लेकर आज तक यह प्रक्रिया सभी समाजों में पायी जाती है । इतिहास बताता है कि युद्ध की दशा में यह प्रक्रिया विभिन्न धर्मों, भाषाओं और क्षेत्रों के लोगों को एकता के सूत्र में बांधने में बहुत सहायक होती रही है।

9.7 बोध प्रष्न :–(Check Your Progress)

1. सामाजिक प्रक्रिया क्या है ? सहयोगी प्रक्रिया का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

2. सहयोग से आप क्या समझते हैं ? सहयोग के विभिन्न प्रकारों की व्याख्या कीजिए।

3. संघर्ष से आप क्या समझते हैं? संघर्ष के स्वरूपों का उल्लेख कीजिए।

4. सहयोग एवं संघर्ष के महत्वों पर प्रकाश डालिए।

9.8 वस्तुनिष्ठ प्रष्नः–(Objective type question)

1. जो प्रक्रिया विभिन्न समूहों और व्यक्तियों को एक दूसरे से जोड़ती है, उसे क्या कहा जाता है ?

   (अ) एकीकरण (ब) सहयोग (स) गतिषीलता (द) समायोजन

2. प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष सहयोग की अवधारणा किसने दी है ?

   (अ) डेविस (ब) जॉनसन (स) मैकाइबर एवं पेज (द) गिलिन एवं गिलिन

3. हिंसा और चुनौती का सम्बन्ध किस सामाजिक क्रिया से है ?

(अ) संघर्ष (ब) नेतृत्व (स) प्रतिस्पर्धा (द) विरोध

4. अन्तःक्रिया की वह सामाजिक प्रक्रिया जिसमें सहमति के क्षेत्रों का आलेखन किया जाता है, उसे क्या कहते हैं ?

(अ) मतैक्य (ब) प्रतिस्पर्धा (स) सहयोग(द) संघर्ष

उत्तर– 1. (ब) 2. (स) 3 (अ) 4 (स़)

9.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची :–Bibiliography

Aubert, Vilhelm (1963) "Competition and Dissensur" Two type of conflict and conflict Resolution." Journal of conflict Resolution

एम. अब्राहम (1982) ''माडर्न सोसियोलाजिकल थियरी'' ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस बाम्बे

कोजरलेविस (1956) ''द फंक्शन ऑफ सोसल कानफ्लिक्ट'' फ्री प्रेस न्यूयार्क।

गिडेन्स एन्थॉनी (1993) ''सोसियोलॉजी'' पोलिटी प्रेस कैम्ब्रिज।

सोरोकिन पित्रिम ए (1978) ''कन्टेम्परेरी सोसियोलॉजिकल थियरी'' कल्याणी पब्लिकेशन नई दिल्ली।

धर्मेन्द्र (2008) ''समाजशास्त्र'' टाटा मैग्रा हिल प्रकाशन नई दिल्ली

सिंह जे0 पी0 (2019) ''आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन'' द्वितीय संस्करण, पी0एच0आई0 प्राइवेट लिमिटेट नई दिल्ली।

दोषी एवं जैन (2013) ''भारतीय समाज संरचना एवं परिवर्तन'' नेशनल पब्लिकेशन हाउस, जयपुर

सिंह बी0एन0 जनमेजय (2020) ''भारत में सामाजिक आन्दोलन'' रावत पब्लिकेशन, जयपुर।

इकाई 10 : सात्मीकरण एंव प्रसार

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 सात्मीकरण एंव प्रसार का अर्थ

10.3 सात्मीकरण एंव प्रसार की परिभाषाएँ

10.4 सात्मीकरण एंव प्रसार की विशेषताएँ

10.5 सात्मीकरण को प्रोत्साहन देने वाली दषाएँ

10.6 प्रसार सम्बधी अन्य अवधारणा

10.7 बोध प्रश्न

10.8 वस्तुष्टि प्रश्न

10.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

10.0 उद्देष्य (Objective)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप जाने गें ।

1. पाठ्यचार्य एवं पाठ्यपुस्तकों में सात्मीकरण एवं प्रसार के अर्थ की व्याख्या करेगें।
2. सात्मीकरण एवं प्रसार की विशेषताओं को समझ सकेगें ।
3. सात्मीकरण एवं प्रसार की परिभाषाओं को समझ सकेगें ।
4. सात्मीकरण को प्रोत्साहन देने वाली दशाओं का अध्ययन कर सकेगें ।
5. प्रसार से सम्बन्धित अन्य अवधारणाओं को समझ सकेगें।

10.1 प्रस्तावाना (Intoducation)

हिन्दुओं तथा मुसलमानों में सात्मीकरण की यह प्रक्रिया सबसे अधिक विद्यमान रही है। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक एकीकरण की दिशा में समायोजन एक आरम्भिक स्तर है, जबकि सात्मीकरण अन्तिम स्तर। इसका कारण यह है कि समाज में तरह–तरह के संघर्ष उत्पन्न होने पर सबसे पहले

कुछ समूह अथवा व्यक्ति एक–दूसरे से समायोजन करने का प्रयत्न करते हैं और जब काफी समय तक उनके बीच समायोजन होता रहता है तो सात्मीकरण की प्रक्रिया उत्पन्न हो जाती है। विभिन्न समाजशास्त्रियों ने इस आधार पर सात्मीकरण को अग्रांकित रूप से परिभाषित किया है।

10.2 सात्मीकरण एवं प्रसार का अर्थ (Meaning and Definitions of Assimilation & Diffusions)

समाजशास्त्रीय रूप से सात्मीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक समूह दूसरे समूह की सांस्कृतिक तथा सामाजिक विशेषताओं (जैसे– रीति–रिवाज, खान–पान, वेश–भूषा, मनोवृत्तियों, विश्वासों तथा व्यवहार के तरीकों आदि) को इस सीमा तक ग्रहण कर लेता है कि फिर दोनों समूहों में कोई स्पष्ट अन्तर नहीं रह पाता । उदाहरण के लिए, भारतीय समाज में समय–समय पर विभिन्न सांस्कृतिक और प्रजातीय समूह प्रवेश करते रहे और समय व्यतीत होने के साथ ही एक समूह ने दूसरे समूह की विशेषताओं को ग्रहण कर लिया। इसके फलस्वरूप आज किसी भी प्रजातीय समूह की सामाजिक और सांस्कृतिक विशेषताएँ हमें दूसरे प्रजातीय समूह से अधिक भिन्न देखने को नहीं मिलतीं। सम्पूर्ण सामाजिक समूहों और संगठनों में नवाचारों के प्रसार का अध्ययन है। 1990 के दशक से इस विषय में तेजी से बृद्धि देखी गई है, और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया के बारे में जिज्ञासा दर्शाता है। संस्थागत तर्कों और गतिशील विश्लेषण में रुचि से प्रेरित है। 1962 की पुस्तक 'Diffusions of Inovation' एवरेट रोजर्स ने नवचार के समाजशास्त्रीय प्रसार को एक सामाजिक प्रणाली में एक प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया है जहाँ एक अभिनव विचार या अवधारणा कुछ चैनलों के माध्यम से सामाजिक समूहों के सदस्यों द्वारा फैलाई जाती है। उन्होंने चार तत्वों की पहचान की है जो इस बात को प्रभावित करते हैं कि कोई नया विचार कैसे और कितनी तेजी से इसका प्रसार होता है।

- नवप्रवर्तन
- प्रयुक्त संचार माध्यम
- 'समूहों को नव प्रवर्तन के सम्पर्क में आना
- 'सामाजिक समूहों की प्रकृति

एक अध्ययन में शोधकर्ता ने बताया कि प्रसार सिद्धान्त का उपयोग विपणन से लेकर कृषि तक के व्यवसाय में किया जाता है ताकि यह सुनिश्चत किया जा सके कि नए उत्पादों, विचारों और तकनीकी को सामाजिक समूह द्वारा अच्छी

तरह से अपनाया जाय। प्रसार की अवधारणा विपणन के क्षेत्र में विशेष रुचि रखती है, क्योंकि यह अवधारणा नए विज्ञापनों की सफलता या विफलता को प्रभावित करती है।

समाजशास्त्री प्रसार तब होता है जब कोई सामाजिक समूह या संगठन एक नवाचार विकसित करता है। एक नया विचार या व्यवहार, निगमों और व्यवसायों के सन्दर्भ में प्रसार किसी विचार को मूर्त रूप देने का एक तरीका है। नवाचारों का प्रसार सामाजिक परिवर्तन की एक प्रक्रिया में अर्न्तदृष्टि प्रदान करता है। कोई उन गुणों का अवलोकन कर सकता है जो नवाचार को सफलतापूर्वक फैलाते हैं और संचार और नेटवर्क के महत्व को देखते हैं। रोजर्स के अनुसार, एक नया विचार निर्णन लेने की प्रक्रिया के माध्यम से फैलता हैं।

- **ज्ञान–** व्यक्ति को सबसे पहले नये आविष्कार के बारे में पता चलता है, लेकिन उसके पास जानकारी और प्रेरणा का अभाव होता है।

- **अनुनय**–नवाचार में व्यक्ति की रुचि बढ़ती है और वह अनुसंधान शुरू करता है।

- **निर्णय**–व्यक्ति नए विचार को अपनाने के सकारात्मक और नकारात्मक परिणामों का मूल्यांकन करता है।

- **कार्यान्वयन–** व्यक्ति एक सिस्टम में नवप्रवर्तन जोड़ता है। इस स्तर पर वह नवाचार की उपयोगिता भी निर्धारित करना शुरू कर देता है।

- **पुष्टि–**व्यक्ति नए नवाचार को जारी रखने का निर्णय लेता है।

पाँच चरणों का मुख्य भाग निर्णय है, यही मुख्य कारण है कि प्रसार (Diffusions) मौजूद है। विचार को अपनाने या अस्वीकार करने का निर्णय अत्यन्त महत्वपूर्ण है। नवचारों के मूल्यांकन के लिए जिम्मेदार लोग या तो यह निर्धारित करते हैं कि नई अवधारणा भविष्य में सफलता प्रदान करने की सम्भावना है और इसे अपनाते हैं या यह निर्धारित करते हैं कि इसके विफल होने की सम्भावना है और अन्य विचारों की तलाश में आगे बढ़ना जारी रखते हैं।

नवाचार के प्रसार के अध्ययन से पता चला है कि परिवर्तन न केवल होने के लिए बल्कि आसानी से होने के लिए नए विचारों को पहले से स्थापित प्रणाली के साथ फिट होना चाहिए। संरचनात्मक या वैचारिक बाधाओं का सामना करने वाला एक नवाचार का प्रसार फैल नहीं सकता दूसरी ओर यदि किसी नए विचार या नवप्रवर्तन में कुछ बाधाएँ है और वह उन स्थानों को स्वीकार करता है जहाँ परिवर्तन तार्किक है तो उस पर अमल होगा।

10.3 सात्मीकरण एवं प्रसार की परिभाषा (Defination of Assimilation & Diffusions)

बोगार्डस के अनुसार, ''सात्मीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा अनेक व्यक्तियों की मनोवृत्तियाँ समान हो जाती हैं और वे एक संयुक्त समूह के रूप में विकसित हो जाते हैं। इस परिभाषा में **बोगार्डस** ने मानसिक एकरूपता को सात्मीकरण की सर्वप्रमुख विशेषता के रूप में स्पष्ट किया है।

बीसेज और बीसेन्ज (Biesanz and Biesan) ने लिखा है, ''सात्मीकरण वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति तथा समूह समान भावनाओं, मूल्यों और उद्देश्यों से भाग लेते हुए दूसरे के निकट आ जाते हैं। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सात्मीकरण की प्रक्रिया तभी सम्भव होती है जब विभिन्न समूहों द्वारा एक–दूसरे की भावनाओं और मूल्यों को स्वीकार करके एक समान संस्कृति के विकास में रुचि ली जाए।

पार्क तथा **बर्गेस** का कथन है, ''सात्मीकरण संस्कृति के प्रसार की वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति तथा समूह एक–दूसरे व्यक्तियों और समूहों की मनोवृत्तियों को समान रूप से ग्रहण कर लेते हैं तथा उनके अनुभव और इतिहास को स्वयं भी प्रदर्शित करके एक सामान्य सांस्कृतिक जीवन में उनके भागीदार बन जाते हैं । '

ऑगबर्न तथा **निमकॉफ** ने उपर्युक्त आधार पर ही सात्मीकरण को परिभाषित करते हुए कहा है, ''दो या दो से अधिक समूहों के दृष्टिकोण में समानता हो जाने की प्रक्रिया को ही सात्मीकरण कहा जाता है।''

''यह सामाजिक परिवर्तन के कारकों में से एक है। किसी विशेष संस्कृति के लक्षणों (पहलुओं) का दूसरी संस्कृति में स्थानान्तरित होना प्रसार कहलाता है।''

''किसी वस्तु, विचार, परम्परा, सामाजिक तत्व, नवाचार आदि के अपने उत्पत्ति स्थल से अन्य क्षेत्रों में उत्तरोत्तर फैलने की प्रक्रिया को प्रसार कहते हैं।''

10.4 सात्मीकरण एवं प्रसार की विषेषताएँ (Characteristics of Assimilation and Diffusion)

- सात्मीकरण सामाजिक एकीकरण से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण सामाजिक प्रक्रिया है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत विभिन्न विशेषताओं वाले दो या दो से अधिक समूहों के बीच समानता स्थापित हो जाती है ।
- सात्मीकरण की प्रक्रिया एक ऐसी स्थिति से सम्बन्धित है जिसमें विभिन्न

पक्षों की भावनाओं, मनोवृत्तियों, व्यवहारों और उद्देश्यों में इतनी अधिक समानता उत्पन्न हो जाती है कि बाह्य रूप से उनमें कुछ भी अन्तर प्रतीत नहीं होता ।

- सात्मीकरण की प्रक्रिया आन्तरिक होती है। इसका तात्पर्य है कि कभी भी सरकार अथवा किसी विशेष सत्ता के द्वारा विभिन्न समूहों को एक–दूसरे की सांस्कृतिक विशेषताओं को ग्रहण करने के लिए बाध्य नहीं किया जाता, बल्कि वे अपनी इच्छा से एक–दूसरे की विशेषताओं को ग्रहण करते हैं ।

- अन्य प्रक्रियाओं की तुलना में सात्मीकरण की प्रक्रिया बहुत स्थायी होती है । व्यक्ति एक बार जब अपनी इच्छा से दूसरे की सांस्कृतिक विशेषताओं को ग्रहण कर लेते हैं तो वही उनकी सामान्य संस्कृति बन जाती है जिसमें जल्दी कोई परिवर्तन नहीं होता ।

- सात्मीकरण एक योजनाबद्ध अथवा विचारपूर्वक स्थापित की गयी दशा नहीं है, बल्कि जब अनेक समूह एक–दूसरे के निकट सम्पर्क में आते हैं और एक–दूसरे से अन्तर्क्रिया करते हैं, तब यह प्रक्रिया अनेक स्तरों के द्वारा धीरे–धीरे स्वयं विकसित हो जाती है।

- सात्मीकरण की प्रक्रिया में व्यक्तिवादिता अथवा अवसरवादिता का कोई स्थान नहीं होता । इसके विपरीत यह प्रक्रिया सामूहिक विचारों और सामूहिक भावनाओं को महत्व देती है ।

- सात्मीकरण की प्रक्रिया का तात्पर्य विभिन्न समूहों के बीच केवल मानसिक एकता स्थापित हो जाता ही नहीं है, बल्कि यह एकता सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के सभी पक्षों में देखने को मिलती है।उपर्युक्त विशेषताओं से स्पष्ट होता है कि सात्मीकरण की प्रक्रिया समायोजन की प्रक्रिया से अनेक अर्थों में भिन्न है । सर्वप्रथम, समायोजन एक अस्थायी प्रक्रिया है, जबकि सात्मीकरण का स्वरूप स्थायी होता है। दूसरे, समायोजन में अवसरवादिता पायी जाती है अपने स्वार्थों के पूरा होते ही व्यक्ति समायोजन करना छोड़ देते हैं । सात्मीकरण एक स्थायी प्रक्रिया है जिसमें कोई अवसरवादिता नहीं होती। तीसरे, समायोजन एक कृत्रिम प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अपने हितों के प्रति हमेशा सजग रहते हैं। दूसरी ओर, सात्मीकरण में व्यक्तिवादिता का पूर्णतया लोप हो जाता है। अन्त में, समायोजन एक समझौतावादी स्थिति है, जबकि सात्मीकरण का तात्पर्य एक ऐसी मानसिक एकता से है जो बहुत धीरे–धीरे स्वाभाविक रूप से विकसित होती है।

- कोई भी सांस्कृतिक समूह दूसरे सांस्कृतिक समूह की संस्कृति या

सांस्कृतिक तत्वों को उसी समय अपनायेगा जब वह उसके लिए अर्थ पूर्ण और उपयोगी हो।

- प्रसार साधारणतः उच्च संस्कृति से निम्न संस्कृति या विकसित से अविकसित संस्कृति की ओर होता है।

- प्रसार के दौरान सांस्कृतिक तत्व अपने मूल रूप में नहीं रह सकते वरन् उनमें ऐसे परिवर्तन आ जाते हैं जिससे वे अपने आप को नये पर्यावरण के अनुरूप बना सकें।

- प्रसार किसी वस्तु, विचार, परम्परा, सामाजिक तत्व, नवाचार आदि के अन्य क्षेत्रों में उत्तरोत्तर फैलाने की प्रक्रिया को प्रसार के अन्तर्गत देखते हैं।

- किसी विशेष संस्कृति के कुछ लक्षणों (पहलुओं) का दूसरी संस्कृति में स्थानान्तरित होना प्रसार की विशेषता को दर्शाता है।

10.5 सात्मीकरण को प्रोत्साहन देने वाली दषाएँ (Conditions Conductive to Assimilation)

विभिन्न समूहों के बीच सात्मीकरण की प्रक्रिया समान रूप से कार्य नहीं करती। किसी समाज में थोड़े समय में ही सात्मीकरण बहुत अधिक हो जाता है, जबकि कुछ समाजों में सैकड़ों वर्षों के बाद भी विभिन्न समूहों की मनोवृत्तियाँ और विचार एक–दूसरे से बिल्कुल भिन्न बने रहते हैं । इसका कारण कुछ ऐसी दषाएँ हैं जो सात्मीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहन देने में सहायक होती हैं। यदि ये दषाएँ समाज में विद्यमान न हों तो सात्मीकरण की प्रक्रिया क्रियाशील नहीं हो पाती ।

- **सहिष्णुता –** सात्मीकरण के लिए व्यक्तियों में सहिष्णुता होनी सबसे अधिक आवष्यक है। यही गुण व्यक्तियों को दूसरों की विशेषताओं को सहानुभूति से समझने और हठवादिता को छोड़ने की आदत प्रदान करता है। इसके फलस्वरूप सभी समूह एक–दूसरे की सामाजिक व सांस्कृतिक विशेषताओं को समझकर उन्हें ग्रहण करने का प्रयत्न करते हैं ।

- **सामाजिक सम्पर्क –** सात्मीकरण की प्रक्रिया तब तक कार्य नहीं कर सकती जब तक दो या दो से अधिक समूह एक–दूसरे के निकट सम्पर्क में न आएँ । निकट सम्पर्क के कारण ही उनके बीच सामाजिक सम्बन्ध बढ़ते हैं और जैसे–जैसे विभिन्न समूहों के बीच अन्तर्क्रियाओं में वृद्धि होती है, सात्मीकरण को भी प्रोत्साहन मिलने लगता है। इसका तात्पर्य है कि एक–दूसरे से सदैव दूर

रहने वाले समूह सात्मीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत नहीं आ सकते ।

- **आर्थिक तथा सांस्कृतिक दशाओं में समानता –** जिन समूहों की आर्थिक और सांस्कृतिक विशेषताएँ एक–दूसरे के लगभग समान होती हैं, उनके बीच सात्मीकरण की प्रक्रिया सरलता से विकसित हो जाती है। समाज में यदि एक समूह बहुत धनी और दूसरा बहुत निर्धन हो अथवा एक ही संस्कृति बहुत विकसित और दूसरे की बहुत पिछड़ी हुई हो तो उनके बीच सात्मीकरण की सम्भावना नहीं की जा सकती ।

- **प्रजातीय मिश्रण –** सात्मीकरण की प्रक्रिया उन समाजों में सबसे कम देखने को मिलती है जहाँ विभिन्न प्रजातियों का मिश्रण बहुत कम हुआ हो। इसका कारण यह है कि ऐसे समाजों में प्रत्येक समूह अपने को प्रजातीय रूप से बहुत विशुद्ध समझकर स्वयं को दूसरे समूहों से दूर रखने का प्रयत्न करते हैं। इसके विपरीत, जिन स्थानों में अनेक प्रजातियों के लोगों के बीच काफी मिश्रण हो जाता है, वहाँ व्यक्ति दूसरे समूह के गुणों को अपनाने के हर सम्भव प्रयत्न करते हैं। इसके फलस्वरूप सात्मीकरण की प्रक्रिया जल्दी ही क्रियाशील हो जाती है।

- **संस्कृतिकरण –** संस्कृतिकरण एक ऐसी स्थिति है जिसमें दो समूहों की संस्कृतियों में इतना अधिक मिश्रण हो जाता है कि किसी भी समूह की संस्कृति को दूसरे से पूर्णतया पृथक न किया जा सके। यह स्थिति सात्मीकरण की पूर्ण दशा है। उदाहरण के लिए, हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों में संस्कृतिकरण हो जाने के कारण ही इन दोनों के बीच सात्मीकरण की प्रक्रिया को इतना प्रोत्साहन मिल सका। दूसरी ओर, फिलिस्तीन में यहूदियों और ईसाइयों की संस्कृति एक–दूसरे से सदैव पृथक रहने के कारण सैकड़ों वर्षों के बाद भी उनके बीच सात्मीकरण की प्रक्रिया उत्पन्न नहीं हो सकी।

- **परिवहन और संचार के उन्नत साधन –** परिवहन और संचार के उन्नत साधन विभिन्न समूहों को एक–दूसरे के निकट सम्पर्क में आने का अवसर प्रदान करते हैं। इसके फलस्वरूप विभिन्न समूहों के विचारों, भावनाओं और मनोवृत्तियों में समानता आ जाने की सम्भावना हो जाती है। इसी प्रकार परिवहन और संचार समाजिक सम्पर्क को प्रोत्साहन देकर सात्मीकरण की प्रक्रिया में वृद्धि करते हैं।

- **समान समस्याएँ–** यदि विभिन्न समूहों की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृ

तिक समस्याएँ एक–दूसरे के बहुत कुछ समान होती हैं तो सात्मीकरण की प्रक्रिया जल्दी ही क्रियाशील हो जाती है। समान समस्याओं से समान मनोवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है और समान मनोवृत्तियाँ एक मानसिक एकता को जन्म देती हैं। विभिन्न समाजों में यह दशा सात्मीकरण के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुई है। इस प्रकार, स्पष्ट होता है कि सामाजिक एकीकरण की दशा में सात्मीकरण सबसे प्रभावपूर्ण प्रक्रिया है । आज सरकार, कल्याण संगठनों तथा स्वयंसेवी समितियों का प्रमुख उद्देश्य सात्मीकरण की प्रक्रिया में वृद्धि करके सामाजिक संगठन को सुदृढ़ बनाना ही होता है ।

10.6 प्रसार सम्बन्धी अन्य अवधारणा (Diffusion & other concept) –

सांस्कृतिक प्रसार–: सांस्कृतिक प्रसार वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा किसी समाज में अस्वीकृत अथवा शोषित सांस्कृतिक तत्वों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में अन्य समाजों में विस्तार होता है। क्लार्क विसलर की अवधारणा जिसमें उनका कहना है कि संस्कृति को सांस्कृतिक केन्द्र से परिधि की ओर बढ़ाना सांस्कृतिक प्रसार है। अर्थात् संस्कृति का वह क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में फैलाव को ही प्रसार कहा जाता है। सांस्कृतिक प्रसार से सम्बन्धित तीन दृष्टिकोण प्रचलित हैं–

- **जर्मन सम्प्रदाय–**कुल्टरक्रीज सम्प्रदाय–ग्रैबनर, एकरमेन स्मिड एवं सेहिन्ट ने कहा कि इस सम्प्रदाय के अनुसार संस्कृति का विकास किसी स्थान से नहीं हुआ, बल्कि प्रत्येक समाज एक सांस्कृतिक द्वीप होता है जिसकी अपनी जीवन शैली होती है। इस प्रकार संस्कृति का प्रसार घेरे के रूप में हुआ है।

- **ब्रिटिष प्रसारवादी या सौर केन्द्रित सम्प्रदायः–** ग्रेप्टन इलियट स्मिथ (The Dffusion of Culture 1933) विलियम जेम्सपेरी (The Children of the Sun 1923) ब्रिटिष प्रसारवादी संस्कृति का उद्‌गम स्थल मिश्र को मानते हैं। चूँकि मिश्र के लोग प्राचीन काल में सूर्य की पूजा करते थे और सूर्य से ही अपनी उत्पत्ति मानते थे। अतः यह कहा जा सकता है कि मिश्र ही वह स्थान है जहाँ संस्कृति सर्व प्रथम उत्पन्न हुई और वहाँ से चारों ओर फैल गयी।

- **अमेरिकी प्रसारवादीः–** फ्रैंच बोआस क्लार्क बिसलर जैसे अमेरिकी प्रसारवादियों का मानना है कि कोई भी संस्कृति एक स्थान से दूसरे स्थान या क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में गमन करती है, अतः संस्कृति का केन्द्र परिधि की ओर गमन होता है।

10.7 बोध प्रष्न (Check Your Progrss) :–

1. सात्मीकरण से आप क्या समझते हैं ? इसकी प्रमुख विशेषताओं को बताइये।

2. प्रसार को परिभाषित कीजिए। इसकी विशेषता को बताइये।

3. सात्मीकरण को प्रोत्साहन देने वाली दषाएँ कौन–कौन सी हैं। विस्तृत उल्लेख कीजिए।

4. सात्मीकरण एवं प्रसार का अर्थ बताइए।

10.8 वस्तुनिष्ठ प्रष्न (Objective type Question)

1. सांस्कृतिक प्रसार से तात्पर्य है–

   (क) एक समाज की संस्कृति की विशेषता को दूसरे समाज में फैलाना।

   (ख) सांस्कृतिक विशेषताओं का विलय।

   (ग) संस्कृतियों का अलगाव।

   (घ) संस्कृतियों की भिन्नताओं का प्रसार।

2. सात्मीकरण का अर्थ निम्न उक्तियों में से चिन्हित करें–

   (क) दबाव मूलक संस्कृति को थोपने की प्रक्रिया।

   (ख) एक संस्कृति का लम्बे समय से दूसरे में मिल जाना।

   (ग) दो या अधिक संस्कृतियों का एक दूसरे के निकट आना।

   (घ) दो संस्कृतियों के बीच आपसी समझ।

3. किसने कहा है कि ''समूह एक दूसरे व्यक्तियों और समूहों की मनोवृत्तियों को समान रूप से ग्रहण कर लेते हैं।''

   (क) पार्क तथा बर्गेज

   (ख) आगबर्न तथा निमकॉफ

   (ग) बोगार्डस

   (घ) बीसेंज और बीसेंज

4. ''दो या दो से अधिक समूहों के दृष्टिकोण में समानता हो जाने की

प्रक्रिया को सात्मीकरण कहते हैं।'' किसने कहा है ?

(क) आगवर्न एवं निमकॉफ

(ख) बोगार्डस

(ग) मैक्स बेवर

(घ) मैकाइवर

उत्तर– 1.(क), 2. (ख), 3. (क), 4.(क)

10.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची (Bibiliography)

- Aubert, Vilhelm (1963) "Competition and Dissensur" Two type of conflict and conflict Resolution." Journal of conflict Resolution
- एम. अब्राहम (1982) ''माडर्न सोसियोलाजिकल थियरी'' ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस बाम्बे
- कोजरलेविस (1956) ''द फंक्शन ऑफ सोसल कानफ्लिक्ट'' फ्री प्रेस न्यूयार्क।
- गिडेन्स एन्थॉनी (1993) ''सोसियोलॉजी'' पोलिटी प्रेस कैम्ब्रिज।
- सोरोकिन पित्रिम ए (1978) ''कन्टेम्परेरी सोसियोलॉजिकल थियरी'' कल्याणी पब्लिकेशन नई दिल्ली।
- धर्मेन्द्र (2008) ''समाजशास्त्र'' टाटा मैग्रा हिल प्रकाशन नई दिल्ली
- सिंह जे0 पी0 (2019) ''आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन'' द्वितीय संस्करण, पी0एच0आई0 प्राइवेट लिमिटेट नई दिल्ली।
- दोषी एवं जैन (2013) ''भारतीय समाज संरचना एवं परिवर्तन'' नेशनल पब्लिकेशन हाउस, जयपुर
- सिंह बी0एन0 जनमेजय (2020) ''भारत में सामाजिक आन्दोलन'' रावत पब्लिकेशन, जयपुर।

इकाई 11 : समाजीकरण एवं इसके प्रकार

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 समाजीकरण का अर्थ

11.3 समाजीकरण की परिभाषाऐं

11.4 समाजीकरण की विशेषताऐं

11.5 समाजीकरण की प्रक्रिया एवं अवस्थाऐं

11.6 समाजीकरण के अभिकरण एवं साधन

11.7 समाजीकरण के प्राथमिक अभिकरण अथवा समूह

11.8 समाजीकरण के द्वितीयक अभिकरण अथवा समूह

11.9 समाजीकरण के सिद्धान्त

11.10 समाजीकरण की आश्यकता एवं महत्व

11.11 सारांष

11.12 बोध प्रष्न

11.13 वस्तुनिष्ठ प्रष्न

11.14 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

11.0 उद्देष्य (Objective)

(1) इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जानेंगे पाठ्यचर्या एवं पाठ्यपुस्तकों में समाजीकरण के अर्थ की व्याख्या कर सकेंगे

(2) समाजीकरण की परिभाषा को समझ सकेंगे।

(3) समाजीकरण की विशेषताओं को समझ सकेंगे।

(4) समाजीकरण की प्रक्रिया एवं इसके अभिकरण एवं साधन को समझ सकेंगे।

(5) समाजीकरण के सिद्धान्त को समझ सकेंगे

(6) समाजीकरण की आवष्यकता एवं महत्व को समझ सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना (INTRODUCTION)

विभिन्न सामाजिक विज्ञानों में यह प्रष्न काफी समय तक विवाद का विषय रहा कि व्यक्ति को एक सामाजिक प्राणी बनाने में वंशानुक्रम की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण होती है अथवा पर्यावरण की। यह सच है कि अपनी जीव रचना के द्वारा हमें जो विकसित मस्तिष्क प्राप्त होता है, उसका व्यक्ति के विकास में महत्वपूर्ण योगदान अवश्य होता है, किन्तु यदि किसी बच्चे को बचपन से ही अपने सामाजिक पर्यावरण से अलग कर दिया जाये तो उसका मस्तिष्क भी उसमें वे कुशलताएँ विकसित नहीं कर सकता जो व्यक्ति को एक सामाजिक प्राणी बनाने के लिए आवष्यक हैं इसका अर्थ है कि जन्म के समय बच्चा केवल एक जैविकीय प्राणी होता है । उसके पास न कोई भाषा होती है, न वह चल–फिर सकता है और न ही यह जानता है कि उसे किस तरह का व्यवहार करना चाहिए । सामाजिक सीख के द्वारा ही उसे परिवार में धीरे– धीरे इन सभी कार्यों को करना सिखाया जाता है । कुछ बड़ा होने पर सीख की प्रक्रिया तथा दूसरों के व्यवहारों का अनुकरण करके बच्चा धीरे–धीरे अपने परिवार, समाज तथा अनेक दूसरे समूहों की भाषाओं के अनुसार व्यवहार करना सीखने लगता है । इस प्रकार सामाजिक सीख की वह प्रक्रिया, जिसके द्वारा एक जैविकीय प्राणी सामाजिक प्राणी के रूप में परिवर्तित होता है, सामाजीकरण की प्रक्रिया कहलाती है ।

11.2 सामाजीकरण का अर्थ (MEANING AND SOCIALIZATION)

विभिन्न समाजशास्त्रियों तथा मनोवैज्ञानिकों ने विभिन्न आधारों पर समाजीकरण की प्रक्रिया को स्पष्ट किया है । इस प्रक्रिया की आरम्भिक विवेचना में सिगमण्ड फ्रायड, मीड, सी. एच. कूले, पिगेट तथा दुर्खीम ने विषेश योगदान किया, जबकि बाद में पारसन्स, लैण्डिस, चौपलिन, किम्बाल यंग तथा अनेक दूसरे विद्वानों ने विभिन्न पक्षों के आधार पर सामाजीकरण की प्रकृति तथा इसके महत्व पर प्रकाश डाला । कुछ विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं के आधार पर समाजीकरण की प्रकृति को इस प्रकार समझा जा सकता है :

11.3 सामाजीकरण की परिभाषा (DEFINITION OF SOCIALIZATION)

ऑगबर्न (Ogburn) के अनुसार, "सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति

अपने समूह के आदर्श नियमों के अनुसार व्यवहार करना सीखता हैं । ''

किम्बाल यंग (Kimball Young) का कथन है कि ''सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रवेश करता है । समाज के विभिन्न समूहों का सदस्य बनता है तथा जिसके द्वारा उसे समाज के मूल्यों और नियमों को स्वीकार करने की प्रेरणा मिलती है । ''इस कथन से सामाजीकरण की दो विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। प्रथम यह कि सामाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवनभर चलती रहती है । द्वितीय यह कि सामाजीकरण का सम्बन्ध किसी जैविकीय विरासत से न होकर सामाजिक सीख और अनुकरण की प्रक्रिया से है ।

बोगार्डस (Bogardus) के शब्दों में, "साथ काम करने, सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना विकसित करने तथा दूसरों की कल्याण सम्बन्धी आवष्यकताओं को दृष्टि में रखकर कार्य करने की प्रक्रिया को सामाजीकरण कहते हैं ।

ग्रीन (A- W- Green) के अनुसार सांस्कृतिक विशेषताओं, आत्म तथा व्यक्तित्व को प्राप्त करता है । '' सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा बच्चा अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं, आत्म तथा व्यक्तित्व को प्राप्त करता है ।

जॉन्सन (H- Johnson) का कथन है, ''सामाजीकरण एक प्रकार की सीख है जो सीखने वाले को सामाजिक भूमिका का निर्वाह करने के योग्य बनाती है ।'' इस प्रकार सामाजीकरण समाज के नियमों के अनुसार सीख है ।

पारसन्स (Parsons) ने लिखा है, ''व्यक्ति द्वारा सामाजिक मूल्यों को सीखने तथा उनका अन्तरीकरण करने को ही सामाजीकरण कहा जाता है।'' इन सभी परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि सामाजिक मूल्यों तथा भूमिकाओं को सीखने की प्रक्रिया का नाम ही सामाजीकरण है । इसके बाद भी सामाजीकरण की प्रक्रिया का सम्बन्ध तीन मुख्य पक्षों से है– (1) जीव–रचना (organism), (2) व्यक्ति (individual) तथा (3) समाज (society) मनुष्य की जीव– रचनाय जैसे – विकसित मस्तिष्क, पतली जीभ, लचीले हाथ तथा तीक्ष्ण दृष्टि उसे वे क्षमताएँ देती हैं जिनकी सहायता से वह विभिन्न व्यवहारों को सीखकर उन्हें स्वयं भी अभिव्यक्त कर सकता है । व्यक्ति सामाजीकरण का वास्तविक आधार है क्योंकि व्यक्ति के 'स्व' अथवा 'आत्म' के विकसित होने से ही सामाजीकरण की प्रक्रिया आगे बढ़ती है । समाज वह क्षेत्र है जिसके अन्दर विभिन्न क्रियाएँ करके व्यक्ति अपने नियमों और मूल्यों को सीखता है

11.4 सामाजीकरण की विषेषताएँ (CHARACTERISTICS OF SOCIALIZATION)

सामाजीकरण की अवधारणा तथा परिभाषाओं से इस प्रक्रिया की अनेक विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं। संक्षेप में, इन्हें निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है :

सामाजिक सीख की प्रक्रिया –– सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जो सामाजिक सीख पर आधारित होती है । सामाजिक सीख व्यक्ति का जन्मजात गुण नहीं है बल्कि इसका तात्पर्य अनुभव, प्रयत्न और प्रशिक्षण के द्वारा उन गुणों को सीखना है जिनके द्वारा व्यक्ति अपने समाज से अनुकूलन करके एक विशेष तरह के व्यक्तित्व को विकसित कर सके ।

सांस्कृतिक सीख का समावेष सामाजीकरण की प्रक्रिया सीखने की जिस प्रक्रिया से सम्बन्धित है, उसमें सांस्कृतिक सीख का सबसे अधिक समावेष होता है । सांस्कृतिक सीख का तात्पर्य व्यक्ति द्वारा अपनी संस्कृति से सम्बन्धित नियमों, मूल्यों, विश्वासों, प्रथाओं, परम्पराओं, व्यवहार के ढंगों, भौतिक वस्तुओं के उपयोग तथा मनोवृत्तियों आदि को सीखने से है । विभिन्न समाजों की संस्कृति में सामाजिक मूल्यों, सम्मान प्रदर्शन तथा शिष्टाचार के तरीकों का रूप एक–दूसरे से काफी भिन्न होता है । यही कारण है कि अलग–अलग समाजों में सामाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा विकसित होने वाला व्यक्तित्व एक–दूसरे से कुछ भिन्न देखने को मिलता है ।

अनुकरण से प्रभावित सामाजीकरण की प्रक्रिया में अनुकरण का विशेष स्थान है । अनुकरण वह विशेषता है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने आस–पास के दूसरे व्यक्तियों की क्रियाओं को जागरूक रूप से समझकर स्वयं भी उसी तरह व्यवहार करने का प्रयत्न करता है। परिवार, पड़ोस, खेल के साथियों तथा अनेक दूसरे संगठनों में हम चेतन अथवा अवचेतन रूप से दूसरे लोगों के व्यवहारों का अनुकरण करते रहते हैं । स्वाभाविक है कि अनुकरण की आदत सामाजीकरण की प्रक्रिया को सरल बना देती है।

निरन्तरता सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जो जीवन के आरम्भ से अन्त तक चलती रहती है । यह सच है कि समाज के नियमों और मूल्यों के अनुसार विभिन्न प्रकार के व्यवहारों को सीखने की प्रक्रिया बचपन और किशोरावस्था में सबसे अधिक प्रभावपूर्ण होती है लेकिन जीवन का कोई स्तर ऐसा नहीं होता जिसमें हम समाज की आशाओं के अनुरूप विभिन्न प्रकार के व्यवहार करना न सीखते हों। व्यवहारों में होने वाला परिवर्तन और संशोधन सामाजीकरण की निरन्तरता को ही स्पष्ट करता है।

आत्म का विकास – इस प्रक्रिया का सम्बन्ध व्यक्ति में एक सन्तुलित आत्म

(balanced self) को विकसित करने से है। आत्म हमारी वह मानसिक विशेषता है जिसके द्वारा हम दूसरे व्यक्ति के विचारों के सन्दर्भ में अपने व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते हैं। दूसरे व्यक्ति हमें अच्छा, बुरा, सामाजिक अथवा समाज–विरोधी आदि जैसा भी समझते हैं, उसी के अनुसार हम अपने बारे में स्वयं एक धारणा बना लेते हैं। यही धारणा हमारा आत्म है । सामाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा ही व्यक्ति के आत्म का विकास होता है ।

अनुकूलन का गुण सामाजीकरण की प्रक्रिया में अनुकूलन की विशेषता का समावेष होता है । इसका अर्थ है कि सामाजीकरण की प्रक्रिया जितने प्रभावपूर्ण ढंग से काम करती है, व्यक्ति अपनी विभिन्न दशाओं और समूह के दूसरे लोगों से उतना ही अधिक अनुकूलन और व्यवस्थापन करने लगता है । इससे भी व्यक्तित्व के विकास में सहायता मिलती है ।

एक सापेक्षिक प्रक्रिया विभिन्न समाजों में सामाजीकरण की प्रकृति एक–दूसरे के पूरी तरह समान नहीं होती । यह प्रक्रिया इस अर्थ में सापेक्षिक है कि समय और स्थान के अनुसार इसमें परिवर्तन देखने को मिलता है । उदाहरण के लिए, कुछ समय पहले एक व्यक्ति को बचपन से ही अपनी परम्पराओं और जाति के नियमों के अनुसार दूसरे लोगों से कुछ विशेष तरह के सम्बन्ध रखना और व्यवहार करना सिखाया जाता था । इसके विपरीत, आज सभी जातियों और वर्गों के लोगों से समताकारी व्यवहारों की सीख देना अधिक अच्छा समझा जाता है । इसी तरह किसी विशेष समाज में जिस व्यवहार को अच्छा या सामाजिक माना जाता है, दूसरे समाज में वही व्यवहार निन्दनीय हो सकता है । उदाहरण के लिए, पश्चिमी समाजों में यौनिक स्वतन्त्रता को निन्दनीय नहीं समझा जाता, जबकि हमारे समाज में यह एक निन्दनीय व्यवहार है । इसका अर्थ है कि सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जो व्यक्ति को अपने सामाजिक मूल्यों, नैतिक नियमों तथा परम्पराओं के अनुसार व्यवहार करने की सीख देती है ।

सामाजीकरण की उपर्युक्त विशेषताओं से स्पष्ट होता है कि इस प्रक्रिया का उद्देश्य व्यक्तियों में नियमबद्ध जीवन को विकसित करना, उनकी क्षमताओं का विकास करना, सभी लोगों को अपनी सामाजिक भूमिकाओं का समुचित रूप से निर्वाह करने की सीख देना तथा वे दषाएँ विकसित करना है जिनमें व्यक्ति अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति कर सके। इन्हीं उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए सामाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा एक नियमबद्ध और अनुशासित जीवन को आवष्यक समझा जाता है। सामाजीकरण की प्रक्रिया ही यह स्पष्ट करती है कि समाज में दूसरे लोग हमसे किस तरह के व्यवहारों की आशा रखते हैं तथा एक

पिता, पुत्र, भाई, मित्र, अधिकारी, कर्मचारी अथवा श्रमिक के रूप में हमें किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए ।

11.5 सामाजीकरण की प्रक्रिया एवं अवस्थाएँ (PROCESS AND STAGES OF SOCIALIZATION)

सामाजीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जो जीवन – पर्यन्त चलती रहती है । इसके बाद भी फ्रायड का यह कथन सच है कि जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में सामाजीकरण के द्वारा व्यक्ति का जो संवेगात्मक विकास होता है, वह जीवनभर उसके व्यक्तित्व को प्रभावित करता है । वास्तव में, बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक एक व्यक्ति विभिन्न प्रकार के समूहों, संघों और संस्थाओं के सम्पर्क में आता है तथा उनसे एक एक–दूसरे से भिन्न प्रकार के व्यवहार करना सीखता है । ऐसे सभी व्यवहार, अनुभव और मनोवृत्तियाँ सामाजीकरण की प्रक्रिया में योगदान करती हैं । इस दृष्टिकोण से मनोवैज्ञानिकों तथा समाजशास्त्रियों ने सामाजीकरण की अनेक अवस्थाओं का उल्लेख किया है जिनमें एक–दूसरे से भिन्न अभिकरण सीख की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं ।

गिडिंग्स (Giddings) ने सामाजीकरण की प्रक्रिया को दो स्तरों में विभाजित करके स्पष्ट किया–प्राथमिक सामाजीकरण (Primary Socialization) तथा द्वितीयक सामाजीकरण (Secondary Sociali zation) प्राथमिक सामाजीकरण वह है जिसका सम्बन्ध एक बच्चे या किशोर को अपने परिवार, पड़ोस और खेल के साथियों से मिलने वाली सीख से होता है। द्वितीयक सामाजीकरण किशोरावस्था के अन्तिम स्तर से आरम्भ होकर व्यक्ति के जीवन के अन्त तक चलता रहता है। प्राथमिक सामाजीकरण के महत्व को देखते हुए हेरी जॉन्सन ने इसके चार स्तरों का उल्लेख किया जिनसे उन्होंने (1) मौखिक अवस्था (2) शैशव अवस्था (3) तादात्मीकरण की अवस्था तथा (4) किशोर अवस्था कहा। सुविधा के लिए सामाजीकरण की प्रक्रिया के विकास को हम निम्नांकित छः अवस्थाओं में विभाजित करके समझ सकते हैं :

मौखिक अवस्था (Oral Stage) सामाजीकरण की प्रक्रिया की यह प्रथम अवस्था है जो बच्चे की आयु के डेढ़–दो वर्ष तक चलती है। इस स्तर में बच्चे को अपने परिवार या दूसरे व्यक्तियों के बारे में कोई ज्ञान नहीं होता । बच्चा केवल अपनी माँ को जानता है। भूख प्यास अथवा किसी कष्ट को बच्चा रोकर अपनी माँ के सामने व्यक्त करता है। इस अवस्था में बच्चे की सभी आवष्यकताएँ केवल शारीरिक और मौखिक ही होती हैं जिन्हें वह कुछ सीमा तक अस्पष्ट संकेतों के द्वारा व्यक्त करने लगता है। **(2) शैशव अवस्था (Anal Stage)** साधारणतया इस

अवस्था का आरम्भ डेढ़–दो वर्ष की आयु से होता है तथा यह तीन–चार वर्ष की आयु तक चलती है। इसी अवस्था से बच्चे को सामान्य क्रियाओं का प्रशिक्षण देना आरम्भ होता है । यह प्रशिक्षण केवल परिवार के सदस्यों और विशेषकर माँ द्वारा ही दिया जाता है । इस समय बच्चे से शौच सम्बन्धी क्रियाओं को स्वयं पूरा करने, कपड़े गन्दे न करने तथा स्वयं को साफ रखने की आशा की जाने लगती है । वह सदस्यों द्वारा दिये जाने वाले प्यार अथवा डाँट को भी समझने लगता है। इसके फलस्वरूप बच्चे में स्नेह, डर और तनाव की भावनाएँ साथ–साथ विकसित होने लगती हैं ।

तादात्मीकरण की अवस्था (Oedipal or Identification Stage)– साधारणतया इस अवस्था का आरम्भ तीन–चार वर्ष की आयु से होकर यह बारह–तेरह वर्ष की आयु तक चलती है। जॉन्सन ने इसे तादात्मीकरण की अवस्था इसलिए कहा है कि इसी अवस्था में बच्चे से यह आशा की जाने लगती है कि वह अपनी आयु, लिंग, परिवार के नियमों तथा उसे दिये जाने वाले प्रशिक्षण के अनुरूप व्यवहार करना आरम्भ करे । इसी स्तर में बच्चा पड़ोस के व्यक्तियों और स्कूल के साथियों के सम्पर्क में आता है । फलस्वरूप उसे इस दशा से तादात्म्य स्थापित करना पड़ता है कि परिवार, पड़ोस और स्कूल में कौन–से व्यवहार करना उचित है और कौन–से अनुचित । अनुशासन के नियमों का प्रभाव इसी स्तर से आरम्भ होता है । विभिन्न दशाओं में बच्चे को मिलने वाला पुरस्कार, प्रशंसा अथवा दण्ड उसे विभिन्न व्यवहारों के प्रति जागरूक बनाता है । फलस्वरूप इसी अवस्था में बच्चे के अन्दर सहयोग, प्रेम, ईर्ष्या, विरोध तथा त्याग जैसी भावनाओं का विकास होने लगता है ।

किशोरावस्था (Adolescence)– इस अवस्था का आरम्भ साधारणतया बारह–तेरह वर्ष की आयु से होकर यह अठारह वर्ष की आयु तक चलती है । समाजशास्त्रियों के अनुसार यह सामाजीकरण की सबसे महत्वपूर्ण अवस्था है । इसमें एक ओर बच्चे में अनेक जैविकीय, मानसिक और सामाजिक परिवर्तन होने लगते हैं तो दूसरी ओर, इस अवधि में उसे दिया जाने वाला प्रशिक्षण जीवनभर उसके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बना रहता है। इस अवस्था में किशोर का अधिकांश समय घर के बाहर स्कूल तथा खेल के साथियों के बीच व्यतीत होता है। इस आयु में शारीरिक विकास के साथ उसमें यौन सम्बन्धी भावनाएँ भी विकसित होने लगती हैं। फलस्वरूप किशोर को जहाँ अपने समाज की मर्यादाओं, नियमों, व्यवहार के तरीकों, अध्ययन की आवष्यकता, इच्छाओं के दमन, शिष्टाचार के तरीकों तथा विचारों को व्यक्त करने के ढंगों का प्रशिक्षण दिया जाने लगता है, वहीं उससे यह भी आशा की जाने लगती है कि वह

प्रत्येक कार्य को करते समय नैतिक नियमों का पालन करे । इस स्तर में व्यक्ति से अपने समाज के निषेधात्मक नियमों (incest taboo) के पालन की सबसे अधिक आशा की जाती है। इसी स्तर में किशोर अपने साथियों तथा कुछ दूसरे समूह के लोगों से समायोजन करना सीखता है किन्तु साथ ही उसमें प्रतिस्पर्धा और संघर्ष की भावनाएँ भी उत्पन्न होने लगती हैं । वह प्रायः व्यवहार के नये ढंगों और नये मूल्यों में रुचि लेने लगता है । नियन्त्रण के विभिन्न तरीकों के द्वारा उसकी ऐसी इच्छाओं का जितने अच्छे ढंग से दमन किया जाता है, उसमें आत्म– नियन्त्रण और दूसरों से अनुकूलन करने की प्रवृत्ति का उतना ही अच्छा विकास होने लगता है ।

वयस्क अवस्था (Adulthood) एक व्यक्ति के वयस्क होने के साथ ही उसका सामाजिक. सांस्कृतिक तथा आर्थिक पर्यावरण तेजी से बदलने लगता है । उसके सम्पर्क का क्षेत्र बहुत बढ़ जाने के कारण व्यक्ति की विभिन्न प्रस्थितियों और भूमिकाओं में भी बहुत परिवर्तन हो जाता है। एक ओर विवाह के कारण वह अपनी पत्नी तथा उसके पक्ष से सम्बन्धित बहुत–से व्यक्तियों से नये सिरे से अनुकूलन करता है तो दूसरी ओर, आर्थिक क्षेत्र में प्रवेश करने के कारण उसे अनेक तरह के नये सम्बन्ध स्थापित करने पड़ते हैं । विभिन्न सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा मनोरंजन सम्बन्धी संगठनों का सदस्य बनने से भी उसकी मनोवृत्तियों और विचारों में परिवर्तन होने लगता है। इस समय व्यक्ति को एक पिता, पुत्र, पति, मित्र, अधिकारी अथवा कर्मचारी, क्लब अथवा राजनीतिक दल के सदस्य तथा अनेक दूसरी प्रस्थितियो से सम्बन्धित भूमिकाओं का साथ–साथ निर्वाह करना पड़ता है। व्यक्ति जिस समुदाय अथवा समूह का सदस्य होता है, उसके विभिन्न नियमों, मूल्यों तथा व्यवहार के तरीकों के प्रति उसके विचारों में अक्सर परिवर्तन होने लगता है। इसके फलस्वरूप समाजीकरण की प्रक्रिया के अनेक नये रूप सामने आने लगते हैं। उदाहरण के लिए, यदि एक व्यक्ति अपने समूह के नियमों और मूल्यों में बिना कोई परिवर्तन किये उन्हें उसी रूप में स्वीकार करता रहता है तो इसे हम सकारात्मक समाजीकरण (positive socialization) कहते हैं । दूसरी ओर, व्यक्ति यदि समाज द्वारा अस्वीकृत व्यवहारों को सीखने लगता है, तब यह नकारात्मक समाजीकरण (negative socialization) का उदाहरण है । नकारात्मक समाजीकरण की सम्भावना वयस्क अवस्था की तुलना में किशोरावस्था में अधिक रहती है । कभी–कभी ऐसा भी होता है कि व्यक्ति को अपने आरम्भिक जीवन में जिन नियमों और मूल्यों की सीख दी गयी हो, उन्हें अपने अनुभवों के आधार पर वह हानिकारक समझकर उनसे सम्बन्धित व्यवहारों को छोड़ने भूलने लगता है । इस दशा को

वि– समाजीकरण (de-socialization) कहा जाता है । उदाहरण के लिए, बाहरी संस्कृतियों के प्रभाव से किसी जनजाति के कुछ लोग यदि नई संस्कृति के तत्वों को ग्रहण करने लगें तथा अपनी मूल संस्कृति की विषेशताओं को छोड़ने लगें, तब इस दशा को वि– समाजीकरण कहा जायेगा । जब किसी समूह में एक या अधिक लोगों के जीवन में वि– समाजीकरण की दशा पैदा होती है तो इसका परिणाम पुर्नसमाजीकरण(re-socialization) के रूप में हमारे सामने आता है । उदाहरण के लिए, यदि एक हिन्दू अनेक देवी–देवताओं के विश्वास तथा कर्मकाण्डों को हानिकारक समझकर उन्हें त्यागता है तो पहले वि– समाजीकरण की दषा पैदा होती है लेकिन बाद में जब वह आर्य समाज का सदस्य बनकर अपने विश्वासों और आचरणों में नये सिरे से परिवर्तन करने लगता है, तब यह पुनर्समाजीकरण की दशा होती है । पुर्नसमाजीकरण की प्रक्रिया ऐच्छिक और नियोजित दोनों तरह की हो सकती है । उपर्युक्त दशा ऐच्छिक पुर्नसमाजीकरण का उदाहरण है, जबकि योजनाबद्ध रूप से अपराधी प्रवृत्ति के लोगों का पुनर्वास करके उनके आचरणों को समाज द्वारा स्वीकृत मूल्यों के अनुसार बदलना नियोजित पुर्नसमाजीकरण कहलाता है । मर्टन ने समाजीकरण के एक अन्य रूप प्रत्याशित सामाजीकरण (anticipatory socialization) की अवधारणा को विकसित करके यह स्पष्ट किया कि व्यक्ति वास्तव में जिस समूह का सदस्य नहीं होता, वह अक्सर उनमें से किसी भी एक को अपना सन्दर्भ समूह मानकर अपने आप को उससे सम्बन्धित करने की आकांक्षा करने लगता है । इससे व्यक्ति में उन मूल्यों और व्यवहार के तरीकों को ग्रहण करने की सम्भावना बढ़ जाती है जो उसके सन्दर्भ समूह से सम्बन्धित होते हैं । यह प्रत्याशित समाजीकरण अक्सर व्यक्ति की नई प्रेरणाओं का स्रोत बन जाता क्योंकि इसी से समूह में उसकी भावी भूमिका का निर्धारण होता है । वयस्क अवस्था में समाजीकरण के. इन सभी रूपों की सम्भावना रहने के कारण अनेक विद्वान वयेस्क अवस्था को समाजीकरण की एक प्रमुख अवस्था के रूप में देखते हैं ।

वृद्धावस्था (Old Age) यह समाजीकरण की अन्तिम अवस्था है । अनेक समाजशास्त्रियो और मनोवैज्ञानिकों ने इसे समाजीकरण की निष्क्रियता का स्तर कहा है । ऐसा इस कारण है कि इस स्तर में व्यक्ति सामाजिक सीख अथवा अनुकरण से बहुत कम प्रभावित होता है । उसके विचारों और व्यवहारों में बहुत कम लोच रह जाने के कारण वह अपनी आदतों में साधारणतया कोई परिवर्तन नहीं कर पाता । यही दशा प्रायः नयी और पुरानी पीढ़ी के मध्य विभिन्न प्रकार के तनावों को भी जन्म देती है । प्रायः वृद्धावस्था में व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक दुर्बलता बढ़ जाने के कारण उसके सामाजिक सम्पर्क का क्षेत्र भी

बहुत सीमित रह जाता है । यह दशा भी नये विचारों और व्यवहारों को समझने में बाधक होती है । इस प्रकार वृद्धावस्था सामाजीकरण की प्रक्रिया के अन्तिम स्तर को अवष्य स्पष्ट करती है लेकिन स्वयं इस प्रक्रिया के विकास में इस स्तर का कोई विशेष योगदान नहीं होता ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि सामाजीकरण की प्रक्रिया का रूप विभिन्न संस्कृतियो मे एक–दूसरे से कुछ भिन्न हो सकता है किन्तु प्रत्येक संस्कृति में यह अनेक जैविकीय तथा सामाजिक कारको के संयुक्त प्रभाव का परिणाम होती है। मनुष्य में सीखने और अनुकरण करने की क्षमता काफी सीमा तक जैविकीय विषेशताओं से प्रभावित होती है लेकिन साथ ही समाज के विभिन्न नियम और गल्य उसे यह बताते हैं कि इस क्षमता का उपयोग किस तरह किया जा सकता है ।

11.6 सामाजीकरण के अभिकरण तथा साधन (AGENCIES AND MEANS OF SOCIALIZATION)

समाजीकरण के विभिन्न स्तरों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह एक लम्बी और जटिल प्रक्रिया है । पूर्व–विवेचन से यह भी स्पष्ट हो चुका है कि सामाजीकरण की विभिन्न अवस्थाओं में एक–दूसरे से भिन्न बहुत–से समूह तथा संस्थाएँ सामाजिक सीख की प्रक्रिया में योगदान करते हैं । इस दृष्टिकोण से उन सभी अभिकरणों तथा साधनों की कार्य–प्रणाली को पुनः समझना आवष्यक है जो समाज के मूल्यों और मानदण्डों के अनुसार एक विशेष ढंग से व्यक्ति का सामाजीकरण करती है ।

11.7 सामाजीकरण के प्राथमिक अभिकरण अथवा समूह (Primary Agencies or Groups of Socialization)

प्राथमिक समूहों को कूले ने 'मानव स्वभाव की पोषिका' (nursery of human nature) कहकर सामाजीकरण की प्रक्रिया में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका को स्पष्ट किया है। ऐसे समूहों में कूले ने प्रमुख रूप से परिवार, क्रीड़ा–समूह तथा पड़ोस का ही उल्लेख किया है लेकिन सामाजीकरण के सन्दर्भ में विद्यालय, नातेदारी – समूह तथा धार्मिक समूहों को भी प्राथमिक समूहों के अन्तर्गत लेना आवष्यक हो जाता है । व्यक्ति के सामाजीकरण में इन सभी समूहों की भूमिका को स्पष्ट करके सरलतापूर्वक इनके व्यापक कार्य–क्षेत्र का अनुमान लगाया जा सकता है ।

परिवार (Family) – परिवार बच्चे के जीवन को प्रभावित करने वाला सबसे

महत्वपूर्ण प्राथमिक समूह है । इसका प्रभाव अत्यधिक प्राथमिक, स्थायी और आन्तरिक होता है । बच्चा प्रारम्भ से ही अपने माता–पिता, भाई–बहनों और अन्य सदस्यों के व्यवहारों से प्रभावित होने लगता है । सदस्यों का पारस्परिक प्रेम, स्नेह, त्याग, अधिकार, मार्ग – निर्देशन और सहायता बच्चे के व्यक्तित्व को भी प्रभावित करते हैं क्योंकि बच्चा आरम्भ से ही उन्हीं व्यवहारों को अपनाना औरम्भ कर देता है। अनुकरण (imitation) की प्रक्रिया परिवार में जितनी स्पष्ट होती है, वैसी और कहीं देखने को नहीं मिलती । आरम्भ में अनुकरण की यह प्रक्रिया अचेतन रूप से क्रियाशील होती है और बाद में गुड़ियों और खिलौनों के साथ खेलने में इसे मूर्त रूप प्राप्त होता है। खेल के दौरान बच्चा गुड़ियों से वैसा ही व्यवहार करता है जैसा व्यवहार उसके माता–पिता उसके साथ करते हैं । वह गुड़ियों को मारता है, समझाता है और उन्हें अक्सर कुछ विशेष कार्यों को करने का निर्देश भी देता है । माता–पिता तथा भाई–बहनों को पढ़ते देखकर है वह स्वयं भी किताबें फैलाकर बैठता है और भोजन बनाने की उन सभी औपचारिकताओं को पूरा करता है तो उसे रसोईघर में देखने को मिलती हैं । इन सम्पूर्ण क्रियाओं से उसमें 'आत्म' (self) का विकास होता है जो प्रो. मीड (Mead) के अनुसार सामाजीकरण की प्रक्रिया का सर्वप्रमुख आधार है । परिवार में सदस्यों के स्वभाव में भिन्नता होने के कारण बच्चा भी उसी व्यक्ति के स्वभाव और गुणों को ग्रहण करने लगता है जिसे वह अपना मॉडल अथवा सन्दर्भ व्यक्ति (reference man) मानता है । कुछ बड़ा होने पर बच्चा परिवार के नियमों, परम्पराओं और आदर्शों के अनुसार कार्य करना सीखता है । यही सीख उसमें अनुशासित जीवन की भावना को विकसित करती है । बच्चा अधिकतर अपने परिवार का प्रतिरूप होता है। परिवार का विघटन सामाजीकरण में बाधा डालता है और इसीलिए विघटित परिवारों (broken families) के अधिकतर बच्चे अपराधी प्रवृत्ति को विकसित करते पाये गये हैं। माता–पिता की सफलता, असफलता, विचारों, चेहरे पर पड़ने वाली शिकनों, बात करने और चलने का ढंग, शिष्टता और सौम्यता आदि विशेषताएँ बच्चे में बहुत कुछ उसी रूप में देखने को मिलती हैं । यही विशेषताएँ उसके भावी व्यक्तित्व को प्रभावित करती हैं । इस दृष्टिकोण से किम्बाल यंग (Kimball Young) का कथन है कि ''समाज में समाजीकरण के विभिन्न अभिकरणों में परिवार सबसे अधिक महत्वपूर्ण है तथा इसमें कोई सन्देह नहीं है कि परिवार के अन्तर्गत साधारणतया माता–पिता ही (बच्चे का समाजीकरण करने वाले) सबसे अधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति होते हैं ।'' समाजीकरण की प्रक्रिया में परिवार के महत्व से टरमन तो इतना अधिक प्रभावित था कि उसने यहाँ तक निष्कर्श के दिया कि ''केवल वही बच्चे विवाह

को सुखपूर्ण बना सकते हैं जिनके माता – पिता का पारिवारिक जीवन सुखी था ।'' इसी तरह हेली और ब्रोनर (Heally and Bronner) का कथन है कि ''अधिकतर बाल अपराधी उन्हीं परिवारों में मिलते हैं जहाँ सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना में बाधा पड़ रही हो ।'' ऐसा इसलिए होता है कि विघटित परिवार बच्चे का समाजीकरण करने में असमर्थ रहते हैं अथवा वे अधिक सफल नहीं हो पाते । इससे स्पष्ट होता है कि परिवार बच्चे का समाजीकरण करने वाला सबसे महत्वपूर्ण अभिकर्ता (agent) है ।

क्रीड़ा – समूह (Play Groups) – परिवार के बाद बच्चे का सम्पर्क अपने खेल के साथियों से होता है। क्रीड़ा–समूह में मिलने वाला पर्यावरण परिवार से कुछ भिन्न होता है । यहाँ उसे उन लो से अनुकूलन करना पड़ता है जो विभिन्न आदर्शों, रुचियों और स्वभाव के होते हैं । इन बच्चों के बीच उसकी आवष्यकताओं और इच्छाओं की सदैव पूर्ति ही नहीं होती बल्कि दूसरे बच्चों के सामने उसे कभी–कभी अपनी इच्छाओं का दमन भी करना पड़ता है। खेल में जीतना और हारना बच्चे में दो महत्वपूर्ण सामाजिक गुण उत्पन्न करता है अर्थात् दूसरों पर शासन करना या नेतृत्व करना और कभी–कभी परिस्थितियों के अनुसार स्वयं भी दूसरों का अनुसरण करना । ये गुण उसको समाज की लगभग प्रत्येक परिस्थिति से अनुकूलन करने की क्षमता प्रदान करते हैं । क्रीड़ा समूह की घटनाएँ बच्चे के लिए नवीन प्रकृति की होती हैं और इनसे अनुकूलन करना उसकी कुशलता का प्रमाण बन जाता है । साधारणतया जो बच्चे अपने खेल के साथियों के बीच लोकप्रिय होते हैं और नेतृत्व करते हैं, वे बड़े होकर भी सफल व्यक्तित्व प्रदर्शित करते हुए देखे गये हैं ।

पड़ोस (Neighbourhood) – बच्चे के सामाजीकरण पर उसके पड़ोस की प्रकृति का भी बहुत व्यापक प्रभाव पड़ता है। ऐसा इस कारण से है कि पड़ोस में दूसरे व्यक्ति जिस प्रकार का व्यवहार करते हैं, बच्चा भी शीघ्र ही उन व्यवहारों का अनुसरण करना आरम्भ कर देता है। छोटी आयु में बच्चे का पड़ोस ही उसका सामाजिक पर्यावरण होता है और यही उसका क्लब भी । यहाँ दूसरे व्यक्तियों के द्वारा प्रदर्शित की गयी सहानुभूति, संयम, सच्चरित्रता अथवा इससे भिन्न विशेषताओं के अनुसार ही बच्चे का व्यक्तित्व बनना आरम्भ हो जाता है । यही कारण है कि अधिकांष व्यक्ति सदैव अच्छा पड़ोस पाने के प्रति सचेत रहते हैं ।

विद्यालय (School) परिवार और पड़ोस के बाद बच्चा विद्यालय में प्रवेश करता है । विद्यालय में शिक्षक और अच्छे विद्यार्थी उसके लिए मॉडल बन जाते हैं जो सामाजीकरण की प्रक्रिया में सहायक होते हैं । इस समय शरीर के अंगों का विकास होने से उसमें नवीन भावनाएँ जन्म लेती हैं जिनके अनुसार उसे अपने

व्यवहार के तरीकों में परिवर्तन करने की आवष्यकता हो जाती है । बच्चे को विद्यालय में अपने से भिन्न आयु और लिंग के सदस्यों से अनुकूलन करने की आवष्यकता होती है । इससे उसकी अभियोजनषीलता (aptability) में और अधिक विकास होता है । इस समय बच्चे के परिवार के सदस्य, साथी और पड़ोस के व्यक्ति उससे नवीन व्यवहारों की आशा करने लगते हैं और इन आशाओं के अनुरूप ही किया गया परिवर्तन बच्चे के सामाजीकरण का आधार बन जाता है । विद्यालय में बच्चे की रचनात्मक आयु का सबसे बड़ा भाग व्यतीत होता है । बच्चा जब किशोर बन जाता है, तब उसके विचारों और अनुभवों में परिवर्तन होना शुरू होता है। इस स्तर पर पुस्तकों का ज्ञान उसके सैद्धान्तिक अनुभवों और तार्किक बुद्धि को बढ़ाता है । इस प्रकार शिक्षा संस्थाएँ बच्चे को उचित और अनुचित तथा वास्तविक और सैद्धान्तिक में भेद करना सिखाती हैं, बच्चे की आदतों का निर्माण करती हैं और परिस्थिति के अनुसार उसे व्यवहार करने का प्रषिक्षण प्रदान करती हैं ।

नातेदारी समूह (Kinship Groups) बच्चे के सामाजीकरण में उसके माता और पिता पक्ष के स्वजनों की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है । एक पितृपक्ष की संस्कृ ति में जहाँ वह बचपन से ही अनुकूलन कर रहा होता है, मातृपक्ष की वंश परम्परा में कुछ नवीनता का अनुभव करता है । विवाह के पश्चात् व्यक्ति का एक तीसरे नातेदारी – पक्ष से सम्बन्ध स्थापित होता है जो सामाजीकरण की प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण आधार है । वैवाहिक जीवन का आरम्भ होते ही व्यक्ति को अपने और पत्नी के बीच एक नया सन्तुलन स्थापित करना पड़ता है । इसकी आवष्यकता इसलिए होती है कि विवाह के पूर्व पति तथा पत्नी पृथक–पृथक विचारधाराओं, आदर्शों, रहन–सहन और प्रथाओं के बीच अपना जीवन व्यतीत करते आये थे लेकिन विवाह के बाद दोनों की मनोवृत्तियों में एकरूपता उत्पन्न होना आवष्यक हो जाता है । इस समय यह अनुकूलन जितनी अधिक मात्रा में होता है, सामाजीकरण की प्रक्रिया उतनी ही सफल होती है । विवाह के माध्यम से सन्तान को जन्म देने से व्यक्ति में उत्तरदायित्व का विकास होता है, त्याग को बढ़ावा मिलता है और कर्त्तव्यों के प्रति व्यक्ति में अधिक निष्ठा उत्पन्न होती है । यह सभी दषाएँ, सामाजीकरण में सहायक होती हैं।

धार्मिक समूह (Religious Groups) मैलीनॉस्की का कथन है कि ''संसार में मनुष्यों का कोई भी समूह धर्म के बिना नहीं रह सकता, चाहे वह कितना ही जंगली क्यों न हो।'' वास्तविकता यह है कि धार्मिक समूह भी प्राथमिक समूहों के ही उदाहरण हैं जो अपने सदस्यों में अनौपचारिक सम्बन्धों को बढ़ावा देकर उनमें

मानवीय गुणों में वृद्धि करने का प्रयत्न करते हैं । पवित्रता, सच्चाई, न्याय, बन्धुत्व और सच्चरित्रता धार्मिक समूहों के प्रमुख गुण हैं। यह सभी गुण समाजीकरण की प्रक्रिया को सरल बनाते, । सभी धार्मिक समूह अपनी सांस्कृ तिक विशेषताओं को सबसे स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करते हैं। इस प्रकार धर्म से अनुकूलन करके व्यक्ति सहज ही अपने सामाजिक मूल्यों और व्यवहार के तरीकों को सीख जाता है ।

11.8 सामाजीकरण के द्वितीयक अभिकरण अथवा समूह (Secondary Agencies or Groups of Socialization)

वर्तमान जटिल समाजों में केवल प्राथमिक समूह व्यक्ति का सामाजीकरण करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं बल्कि व्यक्ति को ऐसे व्यक्तियों से भी अभियोजन करना पड़ता है जिनका क्षेत्र, धर्म, भाषा, रीति–रिवाज तथा स्वार्थ एक–दूसरे से बहुत भिन्न होते हैं । आज जैसे–जैसे व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्धों का क्षेत्र विस्तृत होता जा रहा है, उसके व्यक्तित्व की सफलता भी इस बात पर निर्भर होती जा रही है कि वह अपने चारों ओर के स्वार्थ समूहों से किस प्रकार और कितना अधिक अनुकूलन कर लेता है । इस प्रकार सामाजीकरण की प्रक्रिया में द्वितीयक समूहों की भूमिका भी कम महत्वपूर्ण नहीं है ।

आर्थिक समूह (Economic Groups) द्वितीयक समूहों के अन्तर्गत आर्थिक समूहों का स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है । आर्थिक जीवन में प्रवेश करते ही व्यक्ति को ऐसे सैकड़ों आर्थिक समूहों से अनुकूलन करना होता है जिनके स्वार्थ एक–दूसरे से बहुत भिन्न होते हैं । प्रतियोगिता के द्वारा आवष्यकता को पूरा करना इन समूहों का प्रमुख गुण होता है । इन समूहों में व्यक्ति प्रतिस्पर्धा, सहयोग, समायोजन और बहिर्मुखी व्यवहार के तरीकों को सीखता है । इनमें प्राप्त की गयी सफलता ही व्यक्ति के आर्थिक जीवन की सफलता का आधार बन जाती है । वर्तमान युग में व्यक्ति की सामाजिक स्थिति तथा प्रतिष्ठा के निर्धारण में आर्थिक दशाओं का महत्व बढ़ जाने के कारण इन समूहों में सफलता प्राप्त करना सामाजीकरण की सफलता के लिए अनिवार्य शर्त बनती जा रही है ।

राजनीतिक समूह (Political Groups) वर्तमान प्रजातान्त्रिक समाजों में सामाजीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत राजनीतिक समूहों का महत्व भी कम नहीं है । विभिन्न राजनीतिक दल व्यक्ति को शासन और कानून से परिचित कराने के साथ–ही–साथ उसे अपने अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति भी जागरूक बनाते हैं । इन समूहों में रहकर व्यक्ति सरकार और शासन के प्रति नये दृष्टिकोण अपनाता है तथा इन दृष्टिकोणों के अनुसार ही अपने व्यवहार में परिवर्तन लाने

का प्रयास करता है । राजनीतिक समूह में उत्पन्न चेतना व्यक्ति की सामाजिक चेतना को भी प्रभावित करती है ।

सामाजिक समूह (Social Groups) – प्रत्येक समाज में सामाजिक स्थिति अर्जित करने के क्षेत्र में विभिन्न सामाजिक समूह व्यक्ति का पथ–प्रदर्शन करते हैं । उदाहरण के लिए, जाति, वर्ग तथा प्रजाति आदि कुछ ऐसे सामाजिक समूह हैं जो व्यक्ति को जीवन के आरम्भ से ही यह बोध कराने लगते हैं कि वह किन व्यक्तियों से सामाजिक सम्पर्क रखे और किनसे नहीं । यह समूह व्यक्ति को बताते हैं कि वह कौन–सा व्यवसाय करे, किन नियमों का पालन करे तथा विषम– लिंगियों से कैसा व्यवहार करें । सामाजीकरण की प्रक्रिया में इन समूहों की भूमिका और प्रभाव को इसी तथ्य से समझा जा सकता है कि एक व्यक्ति अपने परिवार, पड़ोस तथा विद्यालय से चाहे कितना भी अनुकूलन कर ले लेकिन अपनी जाति, वर्ग तथा प्रजाति के अनुकूल व्यवहार न करने पर उसे कठोर तिरस्कार और उपहास का सामना करना पड़ता है ।

सांस्कृतिक समूह (Cultural Groups) – व्यक्ति को अपनी 'संस्कृति का प्रतिरूप' कहा जाता है। ऐसा इस कारण है कि विभिन्न सांस्कृतिक समूह ही व्यक्ति को अपने समूह की वेश–भूषा., जनरीतियों अथवा संक्षेप में जीवन – विधि से परिचित कराते हैं । कोई भी व्यक्ति इन सांस्कृतिक विशेषताओं अथवा समूह के आदर्श नियमों से अनुकूलन किये बिना एक सफल व्यक्तित्व का निर्माण नहीं कर सकता।

11.9 समाजीकरण के सिद्धान्त (THEORIES OF SOCIALIZATION)

समाजीकरण का वास्तविक उद्देष्य क्या है तथा किस प्रक्रिया के द्वारा इस उद्देश्य को पूरा किया जाता है ? इसे अनेक विद्वानों ने कुछ सिद्धान्तों की सहायता से स्पश्ट किया है । इनमें कुछ सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत किये गये हैं, जबकि कुछ का आधार समाज की संरचना है। इनकी प्रकृ ति को संक्षेप में निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है

कूले का सिद्धान्त (Colley's Theory of Socialization) चार्ल्स कूले के सिद्धान्त को आत्म–दर्पण का सिद्धान्त (Theory of Looking Glass self) कहा जाता है। अपनी पुस्तक Human Nature and the Social Order में कूले ने यह स्पष्ट किया कि व्यक्तित्व के विकास का सबसे महत्वपूर्ण आधार व्यक्ति में आत्म अथवा (Loself) का समुचित विकास होना है। इस प्रकार समाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति के आत्मा को विकसित करके उसे एक सामाजिक प्राणी बनाती है । इसे स्पष्ट करते हुए कूले ने बताया कि मनुष्य के स्वभाव और

मनोवृत्तियों का निर्माण पारस्परिक सम्पर्क से होता है। एक व्यक्ति जब दूसरे व्यक्तियों के सम्पर्क में आकर उनसे विभिन्न प्रकार की अन्तर्क्रियाएँ करता है, तब अपने बारे में दूसरे लोगों के विचारों के आधार पर वह एक विशेष धारणा. बनाता है । यही धारणा उसका आत्म होती है । इस अर्थ में आत्म स्वयं का आईना अथवा स्वयं का दर्पण है । अपने बारे में दूसरे व्यक्तियों के विचारों और निर्णयों के आधार पर व्यक्ति या तो सन्तुष्टि या गौरव अनुभव करता है अथवा उसमें लज्जा या ग्लानि के भाव उत्पन्न होते हैं। लज्जा का भाव आत्म के विकास में बाधक होता है, जबकि सन्तुष्टि की भावना आत्म के विकास में सहायता देती है । इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के विभिन्न विचारों, आदतों, मनोवृत्तियों तथा व्यवहार के ढंगों का निर्धारण के विकास पर ही आधारित होता है । इस प्रकार सभी सामाजिक समूह और संस्थाएँ व्यक्ति के स्वयं को समुचित रूप से विकसित करने का प्रयत्न करती हैं। वास्तव में, आत्म के विकास से ही व्यक्ति और समाज के बीच व्यवस्थित सम्बन्ध विकसित होते हैं ।

मीड का सिद्धान्त (Mead's Theory of Socialization) – कूले की भाँति मीड ने यह स्वीकार किया कि व्यक्तित्व के विकास में स्वयं के विकास का प्रमुख योगदान होता है तथा व्यक्ति अपने स्वयं को दूसरे लोगों के विचारों के सन्दर्भ में ही विकसित करता है । इसके बाद भी मीड ने अपनी पुस्तक Mind Self and Society के विकास में उस प्रक्रिया को अधिक महत्वपूर्ण माना है जिसके द्वारा एक बच्चा या व्यक्ति दूसरे लोगों से भूमिका–ग्रहण (role-taking) करना सीखता है। भूमिका–ग्रहण का अर्थ है कि बच्चा यह समझने का प्रयत्न करता है कि विभिन्न परिस्थितियों में उसे किस तरह व्यवहार करना चाहिए । आरम्भ में वह परिवार के सदस्यों को जिस तरह व्यवहार करते हुए देखता है, उसी तरह की भूमिका वह स्वयं गुड़ियों के साथ खेले जाने वाले खेल में निभाने का प्रयत्न करता है । इस स्तर पर माता–पिता तथा भाई– बहन ही बच्चे के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति होते हैं । मीड ने उन्हें दूसरे महत्वपूर्ण (Significant Others) नाम से सम्बोधित किया है । कुछ बड़ा होने पर नाटकों व मंच पर किये जाने वाले अभिनय में वह विभिन्न प्रकार की भूमिकाएँ निभाता है । आर्थिक जीवन में प्रवेश करने पर जब वह परिवार के बाहर निकलकर अनेक दूसरे समूहों के साथ अन्तर्क्रिया करता है, तब उसके स्वयं में अन्य लोगों के व्यवहारों का भी समावेष होने लगता है । मीड के अनुसार यह व्यक्ति सामान्यीकृत अन्य (Generalized other) होते हैं जिनमें परिवार से बाहर, समुदाय के कोई भी व्यक्ति हो सकते हैं । यही लोग बच्चे के स्वयं को सामान्यीकृत व्यवहारों के आधार पर विकसित करते हैं । इसका तात्पर्य यह है

कि समाज में व्यक्तियों के सामान्यीकृत व्यवहार ही व्यक्ति को सामाजिक रूप से आत्मचेतन व्यक्ति के रूप में परिवर्तित करते हैं । मीड के विचारों को चार प्रमुख आधारों पर समझा जा सकता है।

(1) समाजीकरण का तात्पर्य व्यक्ति में स्वयं का समुचित रूप से विकास होना है।

(2) जब एक व्यक्ति अपने व्यवहार में सामान्यीकृत व्यवहार का समावेष कर लेता है तो उसके स्वयं का विकास होता है ।

(3) 'स्व' आत्म का विकास होने से ही व्यक्ति एक जैविकीय प्राणी से आत्मचेतन सामाजिक प्राणी के रूप में बदल जाता है ।

(4) व्यक्ति के व्यवहारों पर संवेगात्मक और जैविकीय गुणों का प्रभाव जितना कम होता जाता है, उसका समाजीकरण उतना ही अधिक हो जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि समाजीकरण का उद्देश्य व्यक्ति के 'स्व' अथवा आत्म को विकसित करके उसे सामाजिक रूप से आत्मचेतन व्यक्ति बनाना है।

फ्रायड का सिद्धान्त (Freud's Theory) – इस सिद्धान्त को **मनोविष्लेषणवादी सिद्धान्त(Psycho-analytical theory)** एक ओर कूले और मीड ने 'स्व' अथवा 'आत्म' के समुचित विकास कहा जाता है को समाजीकरण का आधार माना है, वहीं फ्रायड ने मानव व्यवहारों को कुछ मानसिक दशाओं के आधार पर स्पष्ट किया है । इन मानसिक दशाओं में दो शक्तियाँ सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं – प्रेम तथा घृणा । प्रेम व्यक्ति को रचनात्मक कार्य करने की प्रेरणा देता है, जबकि घृणा के प्रभाव से व्यक्ति समाज–विरोधी कार्य करने लगता है । इन दोनों शक्तियों की प्रकृति को फ्रायड ने इड (id), अहम् (ego) तथा पराहम् (super-cgo) की अवधारणा द्वारा स्पष्ट किया। इड हमारे अचेतन मन से सम्बन्धित वह भावना है जो व्यक्ति को प्रत्येक दशा में सुख प्राप्त करने की प्रेरणा देती है । इद के सामने नैतिक–अनैतिक तथा अच्छे या बुरे को कोई विचार नहीं होता। 'अहम' वह शक्ति है जो व्यक्ति को सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार व्यवहार करने की प्रेरणा देती है, यद्यपि आवष्यकता पड़ने पर नियमों के उल्लंघन का भी विरोध नहीं करती। पराहम का सम्बन्ध तार्किक बुद्धि का उपयोग करते हुए सामाजिक मूल्यों के पालन से है। यह किसी भी दशा में नियमों के उल्लंघन की अनुमति नहीं देता। इस आधार पर फ्रायड ने यह स्पष्ट किया कि परिवार तथा अन्य समूहों का उद्देश्य व्यक्ति के अहम् को सन्तुलित करना तथा पराम को विकसित करना है जिससे घृणा के स्थान पर प्रेम तथा नियमों के उल्लंघन की जगह नियमों के पालन को व्यक्तित्व का अंग बनाया जा सके। वास्तव में, फ्रायड के विचार, मानव मन के

तीन पक्षों अर्थात् अचेतन मन, चेतन मन तथा अवचेतन मन के विभाजन पर आधारित हैं, अतः इसके आधार पर समाजीकरण की विवेचना को अधिक उपयुक्त नहीं माना जाता।

दुर्खीम का सिद्धान्त (Theory of Durkheim) – दुर्खीम ने समाजीकरण की प्रक्रिया की विवेचना व्यक्ति के मानसिक जीवन तथा सामूहिक जीवन के अन्तर के आधार पर की है । व्यक्ति का मानसिक जीवन वैयक्तिक होता है तथा यह अनेक जैविकीय दशाओं का परिणाम होता है । इसके विपरीत, समाजीकरण का उद्देश्य व्यक्ति को समूह का एक उपयोगी अंग बनाना है । इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति का जीवन स्वयं में कुछ नहीं है वरन् वह सामाजिक संरचना का एक अंग मात्र होता है । समाज में व्यक्ति विभिन्न प्रकार से जो अन्तर्क्रियाएँ करते हैं, उनसे एक सामूहिक चेतना का निर्माण होता है। इसी सामूहिक चेतना को दुर्खीम ने सामूहिक प्रतिनिधान कहा । सामूहिक प्रतिनिधान में सम्पूर्ण समाज के मूल्यों और आदर्शों का समावेष होने के कारण उनका नैतिक दबाव इतना अधिक होता है कि समूह के सभी सदस्यों को उनके अनुसार व्यवहार करना आवष्यक होता है । इस दृष्टिकोण से समाजीकरण का उद्देश्य व्यक्ति में अपने सामूहिक प्रतिनिधानों के अनुसार व्यवहार करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करना है ।

वास्तविकता यह है कि समाजीकरण की प्रक्रिया को किन्हीं मनोवैज्ञानिक आधारों पर नहीं समझा जा सकता । समाजीकरण की प्रक्रिया का समाज की संरचना, सामाजिक समूहों तथा उत्पादन की प्रणाली से घनिष्ठ सम्बन्ध है । समाज की संरचना ही इस बात का निर्धारण करती है कि बच्चे में आत्म के विकास के लिए उसे पूरी स्वतन्त्रता दी जायेगी अथवा कठोर नियन्त्रण और दण्ड के भय द्वारा उसके व्यवहारों को सामाजिक प्रतिमानों के अनुसार बनाया जायेगा । दूसरी ओर, प्राथमिक और द्वितीयक समूहों के द्वारा भी समाजीकरण का कार्य भिन्न–भिन्न ढंगों से पूरा किया जाता है। इसे हम समाजीकरण के अभिकरणों के अन्तर्गत पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं । कृषि और कुटीर उद्योग–धन्धों पर आधारित अर्थव्यवस्था में व्यक्ति और समाज के बीच अधिक से अधिक अनुरूपता का होना आवष्यक समझा जाता है, औद्योगिक अर्थव्यवस्था में समाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्तिवादिता को भी स्वीकार कर लेती है। इस दृष्टिकोण से समाजीकरण का तात्पर्य किसी एक सार्वभौमिक प्रक्रिया से नहीं है बल्कि यह वह प्रक्रिया है जो समाज की आवष्यकताओं, परिस्थितियों तथा समाजिक मूल्यों के अनुसार व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्धों के रूप का निर्धारण करती है ।

11.10 समाजीकरण की आवष्यकता अथवा महत्व (NEED OR

IMPORTANCE OF SOCIALIZATION)

समाजीकरण के गत सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि समाजीकरण की सफलता व्यक्तित्व के निर्माण की अनिवार्य दशा है। व्यक्ति के लिए समाजीकरण क्यों आवष्यक है अथवा इस प्रक्रिया का सामाजिक महत्व क्या है ? यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से हमे समाजीकरण के कार्यात्मक पक्ष की ओर ले जाता है। वास्तविकता यह है कि जन्म के समय से ही बच्चे में समूह के कार्यों में भाग लेने की योग्यता नहीं होती बल्कि यह योग्यता उसमें धीरे–धीरे अन्य व्यक्तियों के व्यवहारों को देखकर तथा उनसे अन्तर्क्रिया के द्वारा उत्पन्न होती है। इस दृष्टिकोण से समाजीकरण एक प्रकार का सामाजिक नियन्त्रण है जिसका उपयोग समूह के जीवन को शक्तिशाली बनाने तथा व्यक्तित्व का विकास करने के लिए किया जाता समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा ही व्यक्ति यह जान पाता है कि उसे किन व्यक्तियों के साथ रहना है, उनसे किस प्रकार का व्यवहार करना है तथा अपनी क्षमताओं का विकास किस प्रकार करना है। इसके अतिरिक्त, यह प्रक्रिया अनेक दूसरे कार्यों के द्वारा भी व्यक्तित्व को संगठित रखने का प्रयास करती है।

नियमबद्धता का विकास (Basic Discipline) –अनुशासन और नियमबद्धता सामाजिक जीवन की आधारभूत आवष्यकता हैं । व्यक्ति की नैसर्गिक प्रेरणाएँ (impulse) व्यक्ति को अक्सर नियम विरुद्ध व्यवहार करने को प्रोत्साहित करती हैं, चाहे उसका परिणाम कुछ भी हो । समाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति के जीवन को नियमबद्ध रखने के लिए आवष्यक है। यह प्रक्रिया व्यक्ति को अपने लक्ष्यों को तत्काल पूरा कर लेने पर जोर नहीं देती बल्कि परिस्थिति के अनुसार लक्ष्यों को आगे के लिए स्थगित करना, छोड़ देना अथवा संशोधित करना सिखाती है। इसका उद्देश्य भविष्य के उद्देश्यों और सामाजिक मूल्यों को ध्यान में रखते हुए व्यवहार की सीख देना होता है । यही कारण है कि व्यक्ति समाज के नियमों को जितना अधिक ग्रहण कर लेता है, उसके व्यक्तित्व का विकास भी उतनी ही अधिक मात्रा में होने की सम्भावना रहती है ।

आकांक्षाओं की पूर्ति (To Instill Aspiration) – नियमबद्धता और आकांक्षाओं की पूर्ति में घनिष्ठ सम्बन्ध है । अनुशासन स्वयं ही व्यक्ति को कोई पुरस्कार नहीं देता बल्कि यह आकांक्षाओं की पूर्ति में सहायक होता है । वास्तविकता यह है कि सामाजिक व्यवस्था के अनुसार आकांक्षाएँ भी एक व्यक्ति से दूसरे को संचरित (transmit) होती रहती हैं । उदाहरण के लिए, यदि एक समाज की अर्थव्यवस्था उच्च तकनीकी ज्ञान पर आधारित है, तब अनेक व्यक्ति उद्योगपति, वैज्ञानिक अथवा इन्जीनियर बनने की आकांक्षा रखेंगे । समाजीकरण

की प्रक्रिया का कार्य व्यक्ति की आकांक्षाओं के रूप का निर्धारण करना और उसकी आदर्श–पूर्ति में सहायता देना है ।

सामाजिक भूमिकाओं की पूर्ति का प्रशिक्षण (To teach the Responsibility of Social Roles) – समाज में प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह ध्यान रखना आवष्यक होता है कि अन्य व्यक्तियों की तुलना में उसकी सामाजिक स्थिति (status) क्या है । इसका ध्यान रखते हुए ही व्यक्ति को तरह–तरह की भूमिकाएँ निभानी पड़ती हैं। उदाहरण के लिए, एक नेता तथा अनुयायी, शिक्षक और विद्यार्थी तथा वक्ता और श्रोता की भूमिका एक–दूसरे से भिन्न लेकिन एक–दूसरे की पूरक होती है । समाजीकरण की प्रक्रिया यह सिखाती है कि विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के व्यवहारों से किस प्रकार सामंजस्य स्थापित करे और अन्य व्यक्तियों से अनुकूलन करने के लिए किस प्रकार की विचार, भूमिका निभाये । व्यक्ति की भूमिका ही यह निश्चित करती है कि उसमें किस प्रकार के गुण, मनोवृत्तियाँ और व्यक्तित्व सम्बन्धी विषेशताएँ होना आवष्यक है ।

सामाजिक क्षमताओं का विकास (Development of Social Skills) – सामाजिक क्षमताओं का तात्पर्य उन गुणों से है जो व्यक्ति को समाज से अनुकूलन करने में सहायक होते हैं। उदाहरण के लिए, पत्र लिखने की कला, पड़ोसियों से विनम्र व्यवहार, मित्रों से स्पष्ट वार्तालाप, बड़ों का सम्मान करना तथा भोजन की सुन्दर व्यवस्था कुछ सामाजिक क्षमताएँ हैं जो व्यक्ति के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार समाजीकरण की प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण कार्य व्यक्ति में उन सामाजिक क्षमताओं को विकसित करना है जिसे वह अन्य क्षेत्रों में भी अपने दायित्व का निर्वाह कर सके ।

सामाजिकता का विकास (Development of Sociability) – समाजीकरण की प्रक्रिया का व्यक्तित्व के निर्माण से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि इसकी अनुपस्थिति में व्यक्ति किसी भी प्रकार एक सामाजिक प्राणी नहीं बन सकता । गैलेस और डेविस ने अनेक ऐसे असमाजीकृत बच्चों का उल्लेख किया है जो समाज के सम्पर्क से पृथक् रहने के कारण सामाजिक मानव नहीं बन सके । इस सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट होता है कि समाजीकरण की प्रक्रिया अनेक समूहों और संस्थाओं द्वारा प्रभावित होती है। यह प्रक्रिया जीवन के आरम्भिक समय से लेकर मृत्यु के समय तक चलती द्वारा प्रभावित होती है । यह प्रक्रिया जीवन के आरम्भिक समय से लेकर मृत्यु तक चलती रहती है । आरम्भ में इस प्रक्रिया को प्रभावित करने में परिवार, क्रीड़ा – समूह, पड़ोस तथा विद्यालय का महत्व अधिक होता है. जबकि बाद में विभिन्न आर्थिक, धार्मिक और

सांस्कृतिक संस्थाएँ इस प्रक्रिया को पूर्ण बनाने में सहयोग देती हैं। ये सभी संस्थाएँ परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए प्रशंसा, आरोप, सहयोग, अनुकरण, दण्ड, पुरस्कार अथवा विरोध के द्वारा व्यक्ति में सामाजिक गुण उत्पन्न करती हैं।

11.11 सारांष (Summary)

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट होता है कि विभिन्न प्राथमिक और द्वितीयक समूहों के बीच व्यक्ति के सामाजीकरण की प्रक्रिया जीवनपर्यन्त चलती रहती है। इतना अवश्य है कि जीवन के आरम्भिक स्तर पर बच्चा प्राथमिक समूहों से जितना अधिक अनुकूलन कर लेता है, बाद में द्वितीयक समूहों में अनुकूलन करना उतना ही सरल हो जाता है। सामान्यीकरण के दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि प्राथमिक समूह वह पर्यावरण है जिसके अनुसार द्वितीयक समूहों में व्यक्ति की सफलता की सीमा का निर्धारण होता है । इसके पश्चात् भी व्यक्ति के सामाजीकरण में प्राथमिक व द्वितीयक समूहों में से किसी एक के महत्व को दूसरे की अपेक्षा कम या अधिक नहीं कहा जा सकता ।

डेविस (Davis) ने सामाजीकरण की क्रियाविधि में सामाजिक समूहों के अतिरिक्त कुछ जैविकीय विशेषताओं को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया है क्योंकि इन्हीं की सहायता से व्यक्ति सामाजिक और सांस्कृतिक विशेषताओं से अनुकूलन करने की क्षमता प्राप्त करता है।' यहाँ पर उन कारकों का विस्तार में उल्लेख न करके हम केवल निम्न चित्र द्वारा व्यक्ति के सामाजीकरण में सहायक कुछ प्रमुख कारकों और उनके आधारों का उल्लेख करेंगे चित्र से स्पष्ट होता है कि वाहकण (genes) और पितृसूत्र (chromosomes), जैविक पुनरोत्पादन (organic reproduction) के माध्यम से व्यक्ति को विभिन्न प्रकार की शारीरिक क्षमताएँ प्रदान करते हैं और इन्हीं की सहायता से परिवार, क्रीड़ा – समूह, शिक्षण संस्थाएँ, विवाह तथा अन्य संस्थाएँ व संघ प्रतीकात्मक संचार के द्वारा व्यक्ति का समाज से अनुकूलन करके उसको एक समाजीकृत प्राणी के रूप में परिवर्तित करते हैं ।

सामाजीकरण करने में उपर्युक्त कारकों की कार्य–विधि निश्चित और अनिश्चित दोनों प्रकार की होती है लेकिन फिर भी अधिकांश समूह परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए प्रशंसा, आरोप, सहयोग, संघर्ष, सहिष्णुता (submission), प्रभुत्व (ascendancy), समानुरूपता (identification), अनुकरण, शिक्षण, दण्ड अथवा पुरस्कार के द्वारा व्यक्ति के व्यवहारों को नियन्त्रित करके उसका सामाजीकरण करते हैं । सामाजीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत अनुकरण को इतना महत्वपूर्ण गाना गया है कि कुछ विद्वानों ने तो सामाजीकरण को 'अनुकरण द्वारा किया जाने वाला अनुकूलन' कहकर ही परिभाषित कर दिया है।

11.12 बोध प्रष्न (Check Your Progress)

1. सामाजिकरण की परिभाषा दीजिए। सामाजीकरण की प्रक्रिया में प्राथमिक समूहों की क्या भूमिका है ?

2. व्यक्तित्व के विकास में सामाजीकरण के महत्व की विवेचना कीजिए।

3. प्राथमिक तथा द्वितीयक सामाजीकरण का क्या अर्थ है ?

4. सामाजीकरण से आप क्या समझते हैं ? सामाजीकरण के प्रमुख साधन तथा अभिकरण कौन से हैं व्याख्या कीजिए।

11.13 वस्तुनिष्ठ प्रष्न (Objective type question)

1. समाजीकरण की प्रक्रिया का एक प्रमुख उद्देश्य है।

(अ) बच्चे का वी–समाजीकरण करना।

(ब) व्यक्ति को निराशाओं से छुटकारा दिलाना।

(स) व्यक्ति को जीवीकोत्पार्जन के योग्य करना।

(द) व्यक्ति के 'स्व' को को विकसित करना।

2. जिस प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति समाजिक मूल्यों का आन्तरिकरण करता है, वह है–

(अ) विवेकीकरण (ब) समाजीकरण

(स) पुनर्समाजीकरण (द) आत्मसात्कारण

3. जब कोई बच्चा समाज द्वारा अस्वीकृत व्यवहारों को सीखने लगता है, तब इसे कहा जाता है।

(अ) सक्रिय समाजीकरण (ब) वि–समाजीकरण

(स) नकारात्मक समाजीकण (स) अस्वीकृत समाजीकरण

4. हम जब अपराधियों का पुनर्वास करे उसके आचरणों को बदलते हैं, तब इस प्रक्रिया को कहा जाता है।

(अ)समाजीकरण (ब) पुनर्ससमाजीकण

(स) वयस्क समाजीकरण (द) सुधारात्मक समाजीकरण

उत्तर– 1–(द) 2– (ब) 3.– (स) 4– (ब)

इकाई 12 : सामाजिक परिवर्तन एवं इसके प्रकार

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 सामाजिक परिवर्तन का अर्थ

12.3 सामाजिक परिवर्तन की परिभाषाएँ

12.4 सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ

12.5 सामाजिक परिवर्तन के मुख्य स्रोत

12.6 सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन

12.7 सामाजिक परिवर्तन के प्रतिरूप या प्रकार

12.8 सामाजिक परिवर्तन के कारक

12.9 सामाजिक परिवर्तन की कुछ सम्बद्ध अवधारणाएँ

12.10 सारांष

12.11 बोध प्रष्न

12.12 वस्तुनिष्ठ प्रष्न

12.13 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

12.0 उद्देष्य (Objective) :

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जानेंगे–

1. पाठ्यचर्या एवं पाठ्य पुस्तकों में सामाजिक परिवर्तन का अर्थ की व्याख्या कर सकेंगे।
2. सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा को समझ सकेंगे।
3. सामाजिक परिवर्तन की विशेषताओं को समझ सकेंगे।
4. सामाजिक परिवर्तन के मुख्य स्रोत क्या हैं, समझ सकेंगे।
5. सामाजिक परिवर्तन के प्रतिरूप या प्रकार को समझ सकेंगे।

6. सामाजिक परिवर्तन के कारक को समझ सकेंगे।

7. सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित कुछ अन्य अवधारणाओं को समझ सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना (Introduction)

समाज एक परिवर्तनशील व्यवस्था है। प्रत्येक समाज में चाहे अनचाहे परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रहती है। विश्व में ऐसा कोई भी समाज नहीं है, जो परिवर्तन से अछूता रहा है। प्राचीनकाल से ही चिन्तकों ने अपनी कृतियों में सामाजिक परिवर्तन को चर्चा का एक महत्त्वपूर्ण विषय बनाये रखा है। परिवर्तन समाज का एक शाश्वत नियम है, अतः विभिन्न समाजशास्त्रियों एवं मानवशास्त्रियों ने इस विषय पर कुछ ज्यादा ही प्रकाश डाला है। परिवर्तन की प्रक्रिया पर सिलसिलेवार ढंग से चिन्तन की शुरुआत उन्नीसवीं सदी के मध्य में ही हुई, जब विद्वानों ने यूरोपीय समाज में उद्योगीकरण एवं राजनीतिक क्षेत्र में प्रजातान्त्रिक पद्धति की स्थापना से उत्पन्न विभिन्न प्रक्रियाओं को समझने का प्रयास किया, जैसा कि गॉर्डन मार्शल (Gordon Marshall) ने बताया है। फलस्वरूप उस समय से लेकर आज तक सामाजिक परिवर्तन से जुड़े विभिन्न प्रकार के विचारों का ढेर–सा लग गया है। विभिन्न समाजविज्ञानियों में सबसे पहले इस विषय पर ध्यान सम्भवतः ब्रिटिष इतिहासकार हेनरी समनर मेन (Henry Sumner Maine) का गया, जिन्होंने अपनी पुस्तक Ancient Law (1861) में बताया कि समाज एक सरल व्यवस्था से जटिल व्यवस्था की ओर बढ़ता है। उनके समकालीन मानवशास्त्री मॉर्गन (L- H- Morgan) का विचार भी ऐसा ही था।

12.2 सामाजिक परिवर्तन का अर्थ (Meaning of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन समाज के आन्तरिक तथा बाहरी या संरचनात्मक (Structural) दोनों पक्षों में हो सकता है। किसी युग के आदर्श एवं मूल्य में अगर पिछले युग के मुकाबले कुछ नयापन या परिवर्तन दिखाई पड़े तो उसे आन्तरिक परिवर्तन कहेंगे और अगर किसी सामाजिक अंग, जैसे–परिवार, वर्ग, जातीय हैसियत, समूहों के स्वरूपों एवं आधारों में परिवर्तन परिलक्षित हो, तो उसे संरचनात्मक परिवर्तन कहेंगे। लेकिन यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि समाज के जो बुनियादी सामाजिक एवं सांस्कृतिक तत्त्व हैं, जैसे–परिवार, वर्ग, राजनीति, आर्थिक एवं सांस्कृतिक संस्थाएँ सदैव मौजूद रहते हैं। वे समाज के स्थायी तत्त्व हैं। जो परिवर्तन होता है, वह इसके बाह्य स्वरूप और आन्तरिक

अन्तर्वस्तु (Contents) में होता है। व्यापक दृष्टि से देखें तो पता चलेगा कि समाज की प्रत्येक संरचना, संगठन एवं सामाजिक सम्बन्ध में निरन्तर परिवर्तन होता है।

सामाजिक परिवर्तन एक सार्वभौमिक एवं अनिवार्य प्रक्रिया है। मध्यकालीन समाज प्राचीनकाल से और आधुनिक समाज मध्यकालीन समाज से तुलनात्मक रूप में विश्व स्तर पर काफी भिन्न है। यह बात दूसरी है कि सामाजिक परिवर्तन की गति कभी भी एक समान नहीं रही, फिर भी सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया कमोवेश हर काल में चलती रहती है। एन्थनी गिडेन्स (Anthony Gidden,1998) का कहना है कि लगभग 18वीं सदी से सामाजिक परिवर्तन की गति मानव के इतिहास में सापेक्षिक रूप से सबसे तेज रही है और 20वीं सदी के उत्तरार्द्ध में सामाजिक परिवर्तन की गति कुछ और भी ज्यादा तेज हो गयी। विज्ञान और प्रौद्योगिकी की तरक्की ने सामाजिक परिवर्तन की गति को तेज करने में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, ऐसा लैन्डीस (Landes,1969) के साथ–साथ अन्य कई विद्वानों का भी मानना है।

सामाजिक परिवर्तन समाजशास्त्र के क्षेत्र में प्रारम्भ से लेकर आज तक एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। ऑगस्त कौंत (Auguste Comte) एवं उन्नीसवीं सदी के अन्य समाजशास्त्रियों ने सामाजिक परिवर्तन जैसे विषयों में इतनी अधिक रुचि दिखाई कि समाजशास्त्र के प्रारम्भिक काल में ही सामाजिक परिवर्तन के बहुत सारे सिद्धान्त आ गये। उन सभी सिद्धान्तों में ऐतिहासिक भौतिकवाद (Historical Materialism) एवं उदविकासिय सिद्धान्त (Evolutionary Theory) सबसे अधिक लोकप्रिय रहे हैं। आज समाजशास्त्र के क्षेत्र में सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्तों के प्रवर्तक मुख्य रूप से इन्हीं दो सम्प्रदायों में कहीं–न–कहीं रखे जाते हैं।

12.3 सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा (Difinition of Social Change)

जेटलिन (I-M- Zeitlin, 1981 : 352) ने बताया है कि "सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन का सम्बन्ध उन प्रक्रियाओं से है, जिनके द्वारा समाज और संस्कृति में बदलाव आता है। इनके इस विचार से ऐसा लगता है कि सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत हम मुख्य रूप से तीन तथ्यों का अध्ययन करते हैं– (क) सामाजिक संरचना में परिवर्तन, (ख) संस्कृति में परिवर्तन एवं (ग) परिवर्तन के कारक । सामाजिक परिवर्तन के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए हम यहाँ कुछ प्रमुख परिभाषाओं पर विचार करेंगे। मैकाइवर और पेज (R-M- MacIver and C-H-

Page) ने अपनी पुस्तक Society में सामाजिक परिवर्तन को स्पष्ट करते हुए बताया है कि समाजशास्त्री होने के नाते हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों से है और उसमें आये हुए परिवर्तन को हम सामाजिक परिवर्तन कहेंगे।

डेविस (K- Davis, 1949) के अनुसार सामाजिक परिवर्तन का तात्पर्य सामाजिक संगठन अर्थात् समाज की संरचना एवं प्रकार्यों में परिवर्तन है। उनके शब्दों में, "सामाजिक परिवर्तन से तात्पर्य ऐसे प्रत्यावर्तन से है, जो सामाजिक व्यवस्था में उत्पन्न होता है, जिसे समाज की संरचना और प्रकार्य के रूप में जाना जाता है। एच. एम. जॉनसन (H-M- Johnson, 1983) ने सामाजिक परिवर्तन को बहुत ही संक्षिप्त एवं अर्थपूर्ण शब्दों में स्पष्ट करते हुए बताया कि मूल अर्थों में सामाजिक परिवर्तन का अर्थ संरचनात्मक परिवर्तन है। उनके ही शब्दों में, "बुनियादी अर्थ में सामाजिक परिवर्तन से अभिप्राय सामाजिक संरचना में परिवर्तन है। (In its basic sense) then social change means change in social structure) जॉनसन की तरह गिडेन्स (1998) ने बताया है कि सामाजिक परिवर्तन का अर्थ बुनियादी संरचना (Underlying Structure) या बुनियादी संस्था (Basic Institutions) में परिवर्तन से है।

उपरोक्त परिभाषाओं के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता कि परिवर्तन एक व्यापक प्रक्रिया है। समाज के किसी भी क्षेत्र में विचलन को सामाजिक परिवर्तन कहा जा सकता है। विचलन का अर्थ यहाँ खराब या असामाजिक नहीं है। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक, भौतिक आदि सभी क्षेत्रों में होने वाले किसी भी प्रकार के परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहा जा सकता है। यह विचलन स्वयं प्रकृति के द्वारा या मानव–समाज द्वारा योजनाबद्ध रूप में हो सकता है।

परिवर्तन या तो समाज के समस्त ढाँचे में आ सकता है अथवा समाज के किसी विशेष पक्ष तक ही सीमित हो सकता है। परिवर्तन एक सार्वकालिक घटना है। यह किसी–न–किसी रूप में हमेशा चलने वाली प्रक्रिया है। परिवर्तन क्यों और कैसे होता है, इस प्रश्न पर समाजशास्त्री अभी तक एकमत नहीं हैं। इसलिए परिवर्तन जैसे महत्त्वपूर्ण किन्तु जटिल प्रक्रिया का अर्थ आज भी विवाद का एक विषय है। किसी भी समाज में परिवर्तन की क्या गति होगी, यह उस समाज में विद्यमान परिवर्तन के कारणों तथा उन कारणों का समाज में सापेक्षिक महत्त्व क्या है, इस पर निर्भर करता है। सामाजिक परिवर्तन के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए यहाँ इसकी प्रमुख विशेषताओं की चर्चा अपेक्षित है।

12.4 सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ (Characteristics of Social Change)

ऊपर वर्णित परिभाषाओं एवं विचारों को और भी ज्यादा स्पष्ट करने के लिए सामाजिक परिवर्तन की विशेषताओं पर विचार करना जरूरी है, जो इस प्रकार हैं–

सामाजिक परिवर्तन एक विश्वव्यापी प्रक्रिया (Universal Process) है, अर्थात् सामाजिक परिवर्तन दुनिया के हर समाज में घटित होता है। दुनिया में ऐसा कोई भी समाज नजर नहीं आता, जो दीर्घकाल तक स्थिर रहा हो या स्थिर हो। यह सम्भव है कि परिवर्तन की रफ्तार कभी धीमी और कभी तीव्र हो, लेकिन परिवर्तन समाज में चलने वाली एक सतत् प्रक्रिया है।

सामाजिक परिवर्तन के विविध स्वरूप होते हैं। प्रत्येक समाज में सहयोग, समायोजन, संघर्ष या प्रतियोगिता की प्रक्रियाएँ चलती रहती हैं, जिनसे सामाजिक परिवर्तन विभिन्न रूपों में प्रकट होता है। परिवर्तन कभी एकरेखीय (Unilinear) तो कभी बहुरेखीय (Multilinear) होता है, अर्थात् परिवर्तन कभी समस्यामूलक होता है, तो कभी कल्याणकारी। परिवर्तन कभी चक्रीय होता है, तो कभी उदविकासिय। कभी–कभी सामाजिक परिवर्तन क्रान्तिकारी भी हो सकता है। परिवर्तन कभी अल्प–अवधि के लिए होता है, तो कभी दीर्घकालीन।

सामाजिक परिवर्तन की गति अनियमित तथा सापेक्षिक (Irregular and Relative) होती है। समाज की विभिन्न इकाइयों के बीच परिवर्तन की गति समान नहीं होती है। सामाजिक संरचना के कुछ तत्त्वों में परिवर्तन की गति भी समान नहीं होती है। सामाजिक संरचना के सभी अंग समान रूप से गतिशील नहीं होते हैं, जैसे–ग्रामीण समुदाय की अपेक्षा शहरी समुदाय में परिवर्तन ज्यादा तेज गति से होता है। दुनिया के सभी समाजों में परिवर्तन समान रूप से नहीं होता है। किसी समाज में परिवर्तन की गति धीमी होती है, तो किसी में तेज । इसीलिए कहा जाता है कि पश्चिमी दुनिया का समाज भारतीय समाज की तुलना में ज्यादा गतिशील रहा है। परिवर्तन के एक ही कारक का प्रभाव अलग–अलग समाजों में अलग–अलग होता है, अर्थात् परिवर्तन के प्रत्येक कारक हर समाज में समान रूप से प्रभावकारी नहीं होता है। परिवर्तन एक ऐसी प्रक्रिया है जिसका हम तुलनात्मक अध्ययन कर सकते हैं।

सामुदायिक परिवर्तन ही वस्तुतः सामाजिक परिवर्तन है । इस कथन का मतलब यह है कि सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध किसी विशेष व्यक्ति या समूह के विशेष भाग तक नहीं होता है। वही परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन कहे जाते हैं,

जिनका प्रभाव समस्त समाज में अनुभव किया जाता है। संक्षेप में सामाजिक परिवर्तन की धारणा वैयक्तिक नहीं, बल्कि सामाजिक है। यह विचार थोड़ा विवादास्पद भी हो सकता है, पर अधिकांश समाजशास्त्री इस बात को मानते हैं।

सामाजिक परिवर्तन की कोई निश्चित भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है। इसका मुख्य कारण यह है कि अनेक आकस्मिक कारक भी सामाजिक परिवर्तन की स्थिति पैदा करते हैं। इसलिए सामाजिक परिवर्तन के निश्चित स्वरूप की भविष्यवाणी हम नहीं कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, मार्क्स ने पूँजीवाद के अन्त में समाजवाद के उत्थान की भविष्यवाणी की थी, लेकिन यह परिवर्तन अब तक साकार नहीं हो पाया है और न ही होने की सम्भावना है। इसी तरह हम सामाजिक सम्बन्धों, विचारों, मनोवृत्तियों, आदर्शों एवं मूल्यों में परिवर्तनों की निश्चित भविष्यवाणी नहीं कर सकते हैं।

12.5 सामाजिक परिवर्तन के मुख्य स्रोत (Important Sources of Social Change)

कुछ समाजशास्त्रियों का कहना है कि सामाजिक परिवर्तन के मुख्य तीन स्रोत हैं, जो इस प्रकार हैं–

आविष्कार (Invention) विज्ञान और प्रौद्योगिकी के जगत् में मनुष्य के आविष्कार इतने अधिक हैं कि उनकी गिनती करना मुश्किल है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी क्षेत्र के आविष्कारों ने मानव–समाज में एक युगान्तकारी एवं क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया है। आज विश्व में शायद ही कोई व्यक्ति या समाज होगा जिसका जीवन प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित न हुआ हो । मानव–समाज में जितने भी परिवर्तन आये हैं, उन परिवर्तनों के मुख्य स्रोत भौतिक जगत् के आविष्कार ही रहे हैं।

खोज (Discovery) मनुष्य ने अपने ज्ञान एवं अनुभवों के आधार पर अपनी समस्याओं को सुलझाने और एक बेहतर जीवन व्यतीत करने के लिए बहुत तरह की खोज की है। शरीर में रक्त संचालन, बहुत सारी बीमारियों के कारणों, खनिजों, खाद्य–पदार्थों, पृथ्वी गोल है एवं वह सूर्य की परिक्रमा करती है आदि हजारों किस्म के तथ्यों की मानव ने खोज की, जिनसे उनके भौतिक एवं गैर–भौतिक जीवन में काफी परिवर्तन आया। मनुष्य एक खोजी प्रवृत्ति का जीव है और वह आज भी नयी–नयी खोजों में लगा है। इन खोजों की सामाजिक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

प्रसार (Diffusion) सांस्कृतिक जगत् के परिवर्तन में प्रसार का प्रमुख योगदान

रहा है। पश्चिमीकरण (Westernization), आधुनिकीकरण (Modernization) एवं भूमण्डलीकरण (Globalization) जैसी प्रक्रियाओं का मुख्य आधार प्रसार ही रहा है। आधुनिक युग में प्रौद्योगिकी का इतना अधिक विकास हुआ है कि प्रसार की गति बहुत तेज हो गयी है। यही कारण है कि आज हम एक विश्व (One World) या विश्व–ग्राम (Global Village) जैसी अवधारणाओं की बात करने लगे हैं।

आन्तरिक विभेदीकरण (Internal Differentiation) जब हम सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हैं, तो ऐसा लगता है कि परिवर्तन का एक चौथा स्रोत भी सम्भव है–वह है आन्तरिक विभेदीकरण । इस तथ्य की पुष्टि उदविकासिय सिद्धान्त (Evolutionary Theory) के प्रवर्त्तकों के विचारों से होती है। उन लोगों का मानना है कि समाज में परिवर्तन समाज की स्वाभाविक उदविकासिय प्रक्रिया से भी सम्भव होता है। हर एक समाज अपनी आवश्यकताओं के अनुसार धीरे–धीरे विशेष स्थिति में परिवर्तित होता रहता है। प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों, जैसे–स्पेंसर, हॉबहाउस, डर्कहाइम एवं बहुत सारे मानवशास्त्रियों ने अपने उदविकासिय सिद्धान्त में स्वतः चलने वाली आन्तरिक विभेदीकरण की प्रक्रिया पर काफी बल दिया है। इसमें कोई सन्देह की बात नहीं है कि इस आन्तरिक विभेदीकरण की प्रक्रिया में खोज एवं आविष्कार का अपना एक अलग महत्त्व है।

12.6 सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन (Social and Cultural Change)

सामाजिक परिवर्तन एवं सांस्कृतिक परिवर्तन एक ही चीज है या अलग–अलग हैं, इस विषय पर थोड़ा विवाद रहा है। अतः इस पर कुछ विचार करने की आवष्यकता है। कुछ ऐसे भी मानवशास्त्री एवं समाजशास्त्री हैं, जो सामाजिक परिवर्तन एवं सांस्कृतिक परिवर्तन को एक ही मानते हैं, जैसे– गिलिन एवं गिलिन (Gillin and Gillin,1948) तथा मौलिनॉवस्की (B- Malinowski) गिलिन एवं गिलिन जीवन की स्वीकृत पद्धतियों (Accepted modes of life) में बदलाव को सामाजिक परिवर्तन की संज्ञा देते हैं। मालिनॉवस्की ने जीवन की स्वीकृत पद्धतियों को ही 'संस्कृति' की संज्ञा दी है, लेकिन यदि हम ठीक से विचार करें तो पता चलता है कि सांस्कृतिक परिवर्तन एवं सामाजिक परिवर्तन में काफी अन्तर है। शाब्दिक दृष्टि से 'संस्कृति शब्द समाज से अधिक व्यापक अर्थ रखता है। अतः सांस्कृतिक परिवर्तन का तात्पर्य जीवन के सभी पक्षों में परिवर्तन से है। इसके अन्तर्गत धर्म, ज्ञान, कला, विश्वास, प्रथा, कानून, विज्ञान, दर्शन, साहित्य, वास्तुकला, आदतें आदि सभी क्षेत्रों में परिवर्तन सम्मिलित हैं।

जब हम किंग्सले डेविस के सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा पर विचार करते

हैं, तो स्पष्ट होता है कि सामाजिक परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तन का मात्र एक अंश है। मैकाइवर एवं पेज भी सामाजिक परिवर्तन को सांस्कृतिक परिवर्तन से भिन्न मानते हैं। उनके अनुसार सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध मात्र सामाजिक सम्बन्धों में आये हुए परिवर्तन से है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों के बीच निम्नलिखित अन्तर हैं–

(क) सामाजिक परिवर्तन मात्र सामाजिक सम्बन्धों में होने वाला परिवर्तन है, जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन धर्म, ज्ञान, विश्वास, कला, साहित्य, प्रथा, कानून आदि सभी क्षेत्रों में होने वाला परिवर्तन है।

(ख) सामाजिक परिवर्तन से सामाजिक संरचना में परिवर्तन का बोध होता है, जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन से संस्कृति के विभिन्न पक्षों में होने वाले परिवर्तनों का बोध होता है।

(ग) सामाजिक परिवर्तन चेतन एवं अचेतन दोनों परिवर्तनों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है, जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन प्रायः जागरूक प्रयत्नों से घटित होता है।

(घ) सामाजिक परिवर्तन की गति काफी तीव्र भी हो सकती है, जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन की गति अपेक्षाकृत कम तीव्र होती है। इसका तात्पर्य यह है कि सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन तेजी से भी हो सकता है, जबकि धर्म, विश्वास, जीवन के मूल्यों आदि में परिवर्तन धीमी रफ्तार से होता है। इस तरह यह स्पष्ट है कि सामाजिक परिवर्तन एवं सांस्कृतिक परिवर्तन दोनों भिन्न हैं, फिर भी दोनों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक–दूसरे पर परिवर्तन का प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से अवश्य पड़ता है। सामाजिक परिवर्तन एवं सांस्कृतिक परिवर्तन दोनों अलग–अलग हैं या एक हैं, यह अभी तक विवाद का विषय बना हुआ है। यहाँ अन्तिम रूप से कुछ कहना काफी कठिन है, क्योंकि संस्कृति एवं समाज की कोई ऐसी निश्चित परिभाषा नहीं है, जिसे सभी लोग स्वीकार करते हों।

12.7 सामाजिक परिवर्तन के प्रतिरूप या प्रकार (Patterns or Kinds of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन का स्वरूप हमेशा एक जैसा नहीं होता है। अतः हमें सामाजिक परिवर्तन के स्वरूप के सन्दर्भ में उसके प्रतिरूप (Pattern) या प्रकार (Kinds) पर विचार करना चाहिए । अर्थ की दृष्टि से दोनों शब्दों में काफी भेद हैं, पर विषय–वस्तु की दृष्टि से समानता है। वे सभी एक ही किस्म की विषय–वस्तु के द्योतक हैं। निम्न विवरण से इस तथ्य की पुष्टि हो जायेगी।

सामाजिक परिवर्तन के अनेक प्रतिरूप (Pattern) देखने को मिलते हैं। मकीवर और पेज (1985) ने सामाजिक प्रतिरूप के मुख्य तीन स्वरूपों की चर्चा की है, जो इस प्रकार हैं–

सामाजिक परिवर्तन कभी–कभी क्रमबद्ध तरीके से एक ही दिशा में निरन्तर चलता रहता है, भले ही परिवर्तन का आरम्भ एक–एक ही क्यों न हो। उदाहरण के लिए, हम विभिन्न आविश्कारों के पश्चात् परिवर्तन के क्रमों की चर्चा कर सकते हैं। विज्ञान के अन्तर्गत परिवर्तन की प्रकृति एक ही दिशा में निरन्तर आगे बढ़ने की होती है, इसलिए ऐसे परिवर्तन को हम एकरेखीय (Linear) परिवर्तन कहते हैं। अधिकांश उद्विकासीय समाजशास्त्री (Evolutionary Sociologists) एकरेखीय सामाजिक परिवर्तन में विश्वास करते हैं।

कुछ सामाजिक परिवर्तनों में परिवर्तन की प्रकृति ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर जाने की होती है, इसलिए इसे उतार–चढ़ाव परिवर्तन (Fluctuating Changes) के नाम से भी हम जानते हैं। उदाहरण के लिए, भारतीय सांस्कृतिक परिवर्तन की चर्चा कर सकते हैं। पहले भारत के लोग अध्यात्मवाद (Spiritualism) की ओर बढ़ रहे थे, जबकि आज वे उसके विपरीत भौतिकवाद (Materialism) की ओर बढ़ रहे हैं। पहले का सामाजिक मूल्य 'त्याग' पर जोर देता था, जबकि आज का सामाजिक मूल्य 'भोग' एवं संचय पर जोर देता है। इस प्रतिरूप के अन्तर्गत यह निश्चित नहीं होता कि परिवर्तन कब और किस दिशा में उन्मुख होगा।

परिवर्तन के तृतीय प्रतिरूप को तरंगीय परिवर्तन के भी नाम से जाना जाता है। इस परिवर्तन के अन्तर्गत उतार–चढ़ावदार परिवर्तन में परिवर्तन की दिशा एक सीमा के बाद विपरीत दिशा में उन्मुख हो जाती है। इसमें लहरों की भाँति एक के बाद दूसरा परिवर्तन आता है। ऐसा कहना मुश्किल होता है कि दूसरी लहर पहली लहर के विपरीत है। हम यह भी कहने की स्थिति में नहीं होते हैं कि दूसरा परिवर्तन पहले की तुलना में उन्नति या अवनति का सूचक है। इस प्रतिरूप का सटीक उदाहरण है फैशन। हर समाज में नये–नये फैशन की लहरें आती रहती हैं। हर फैशन में लोगों को कुछ–न–कुछ नये परिवर्तन दिखाई देते हैं। ऐसे परिवर्तनों में उत्थान, पतन और प्रगति की चर्चा फिजूल है।

बॉटमोर (T-B- Bottomore, 1972) ने सामाजिक परिवर्तन के वर्गीकरण की चर्चा की है। उन्होंने कहा है कि सामाजिक परिवर्तन का वर्गीकरण किया जाना चाहिए, इसलिए कि 20वीं सदी में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया पहले से ज्यादा तेज हो गयी है और विश्व के सभी देशों में सामाजिक परिवर्तन की

तीव्रता एवं उसका स्वरूप एक जैसा नहीं है। सामाजिक परिवर्तन की गति के सम्बन्ध में विकसित एवं विकासशील देशों के बीच काफी फर्क है। सामाजिक परिवर्तन की गति में असमानता एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर तुलनात्मक अध्ययन के लिए सामाजिक परिवर्तन का वर्गीकरण किया जाना चाहिए। वर्गीकरण के द्वारा सामाजिक परिवर्तन के स्वरूप को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समझने में भी सहायता मिलेगी। कभी–कभी ऐसा भी देखने को मिला है कि एक ही समाज में विभिन्न कालों में विभिन्न गतियों से सामाजिक परिवर्तन हुए हैं।बॉटमोर ने सामाजिक परिवर्तन के वर्गीकरण की आवश्यकता पर जोर तो दिया है, लेकिन उन्होंने स्वयं कोई वर्गीकरण प्रस्तुत नहीं किया है। उन्होंने वर्गीकरण के चार आधारों की बात तो कही है, पर उन आधारों पर विभिन्न किस्म के परिवर्तनों के नामकरण की कोशिश नहीं की है। बॉटमोर ने सामाजिक परिवर्तन के वर्गीकरण के चार आधारों का वर्णन किया है, वे इस प्रकार हैं–

परिवर्तन के स्रोतों (Sources of Change) के आधार पर सामाजिक परिवर्तन का वर्गीकरण किया जा सकता है। इस आधार पर सामाजिक परिवर्तन को दो भागों में बाँटा जा सकता है – आन्तरिक परिवर्तन (Endogenous) एवं बाह्य परिवर्तन । उन्होंने बताया है कि अर्ध–विकसित समाज (Under developed) में बाह्य परिवर्तनों की प्रधानता होती है, जबकि विकसित समाज में आन्तरिक परिवर्तन की प्रधानता होती है। उन्होंने आगे यह भी बताया है कि वर्गीकरण का आधार यह भी हो सकता है कि पहले समाज के किस आयाम में परिवर्तन आता है, जैसे – राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक इत्यादि ।

सामाजिक परिवर्तन के वर्गीकरण का दूसरा आधार यह भी हो सकता है कि वृहत पैमाने पर सामाजिक परिवर्तन होने की पूर्वावस्था क्या थी । यह इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि उद्योगीकरण के द्वारा विभिन्न समाजों में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन आते हैं। उद्योगीकरण के द्वारा जो परिवर्तन भारतीय और चीनी समाज में आया है, वही परिवर्तन अफ्रीका के आदिम जातियों में नहीं आया है। उद्योगीकरण के चलते सामाजिक परिवर्तन की रफ्तार कहीं धीमी तो कहीं तेज होगी। इसके अलावा, सामाजिक परिवर्तन का स्वरूप भी अलग–अलग होगा।

परिवर्तन की गति के आधार पर भी सामाजिक परिवर्तन का वर्गीकरण किया जा सकता है। सामाजिक परिवर्तन की गति कभी तेज और कभी धीमी देखने को मिलती है। यदि सामाजिक परिवर्तन का आधार कोई जन–आन्दोलन या क्रान्ति है, तो सिर्फ परिवर्तन की गति ही तेज न होगी, बल्कि परिवर्तन का स्वरूप भी बुनियादी होगा।

अन्त में बॉटमोर ने बताया है कि वर्गीकरण का आधार यह भी हो सकता है कि परिवर्तन योजनाबद्ध है या आकस्मिक। योजनाबद्ध परिवर्तन (Planned Change) का स्वरूप आकस्मिक परिवर्तन (Fortuitous Change) से भिन्न होता है। आज समाज में अधिकांश परिवर्तन योजनाबद्ध तरीके से हो रहे हैं, जबकि आदिकाल में सभी परिवर्तन आकस्मिक हुआ करते थे। आकस्मिक परिवर्तन की गति योजनाबद्ध परिवर्तन की तुलना में साधारणतया धीमी होती है।

12.8 सामाजिक परिवर्तन के कारक (Factors of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन के अनगिनत कारक हैं, पर विभिन्न कारकों की महत्ता देश और काल से प्रभावित होती है। जिन कारणों से आज सामाजिक परिवर्तन हो रहे हैं, उनमें से बहुत–से कारक प्राचीनकाल में मौजूद नहीं थे। परिवर्तन के जिन कारकों की महत्ता प्राचीन एवं मध्यकाल में रही है, आज उसकी महत्ता उतनी नहीं रह गयी है। समय के साथ परिवर्तन के स्वरूप और कारक दोनों बदलते रहते हैं। एच.एम. जॉनसन (1960) ने परिवर्तन के स्रोतों को ध्यान में रखकर परिवर्तन के सभी कारणों को मुख्य रूप से तीन खण्डों में रखा है।

आन्तरिक कारक (Internal Factors) सामाजिक परिवर्तन कभी–कभी आन्तरिक कारणों से भी होता है। व्यवस्था का विरोध आन्तरिक विरोध (Internal Contradictions) से भी होता है। जब लोग किसी कारणवश अपनी परम्परागत व्यवस्था से खुश नहीं होते हैं, तो उसमें फेर–बदल करने की कोशिश करते रहते हैं। साधारणतया एक बन्द समाज में परिवर्तन का मुख्य स्रोत अन्तर्जात (Endogenous or Orthogenetic) कारक ही हुआ करता है। धर्म–सुधार आन्दोलन से जो हिन्दू समाज में परिवर्तन आया है, वह आन्तरिक कारक का एक उदाहरण है।

बाह्य कारक (Enternal Factors) जब दो प्रकार की सामाजिक व्यवस्था, प्रतिमान एवं मूल्य एक–दूसरे से मिलते हैं, तो सामाजिक परिवर्तन की स्थिति का निर्माण होता है। पश्चिमीकरण या पाश्चात्य प्रौद्योगिकी के द्वारा जो भारतीय समाज में परिवर्तन आया है, उसे इसी श्रेणी में रखा जायेगा। साधारणतः आधुनिक युग में परिवर्तन के आन्तरिक स्रोतों की तुलना में बहिर्जात (Eogenous or Heterogenetic) कारकों की प्रधानता होती है।

गैर–सामाजिक पर्यावरण (Non-social Environment) – सामाजिक परिवर्तन का स्रोत हमेशा सामाजिक कारण ही नहीं होता। कभी–कभी भौगोलिक या भौतिक स्थितियों में परिवर्तन से भी सामाजिक परिवर्तन होता है। आदिम एवं पुरातनकाल में जो समाज में परिवर्तन हुए हैं, उन परिवर्तनों में गैर– सामाजिक

कारकों की बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

एन्थनी गिडेन्स (1993) ने परिवर्तन के कारकों का विश्लेषण कुछ दूसरे ढंग से किया है। उन्होंने सभी कारकों को तीन भागों में वर्गीकृत कर देखा है। उनके वर्गीकरण का आधार जॉनसन से अलग है। उन्होंने परिवर्तन के कारकों के स्रोत को न देखकर उसके स्वरूप को ध्यान में रखकर तीन भागों में विभाजन किया है, वे हैं– भौतिक पर्यावरण (Physical Environment), राजनीतिक व्यवस्था (Political Organization) एवं संस्कृति (Culture) जिनकी चर्चा विस्तार से नीचे की जा रही है। मकीवर और पेज ने भी सामाजिक परिवर्तन के तीन ही प्रमुख कारक माने हैं, पर वह थोड़ा भिन्न हैं, जैसे–प्रौद्योगिक (Technological), जैविक (Biological) एवं सांस्कृतिक (Cultural) । उनका यह वर्गीकरण अब काफी पुराना पड़ चुका है। यहाँ हम गिडेन्स के द्वारा दिये गये कारकों की चर्चा करेंगे, जो नवीनतम है।

भौतिक पर्यावरण (Physical Environment) समाज के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में भौतिक पर्यावरण का प्रभाव बहुत ही ज्यादा रहा है। जैसे–ऑस्ट्रेलिया में आदिमजाति के लोगों को कन्दमूल, फल (Edible Roots and Fruits) आसानी से उपलब्ध नहीं थे, इसलिए वहाँ के आदिवासियों को स्वभावतः शिकारी बनना पड़ा। दूसरी तरफ, सिन्धु घाटी सभ्यता (Indus Valley Civilization) में सिंचाई और खेती के साधन उपलब्ध थे, इसलिए वहाँ का समाज खेती और पशुपालन से जीविकोपार्जन करता रहा। आदिकाल में किसी समाज का शिकारी होना या किसी का खेती या पशुपालन पर निर्भर करना इस बात पर निर्भर करता था कि वे किस भौतिक परिस्थिति में जी रहे हैं। विश्व की महान् सभ्यता और संस्कृतियों का नदी घाटी में विकसित होना भी इसी बात का प्रमाण है कि भौतिक सुख–सुविधाओं की सामाजिक निर्माण और विकास में एक अहम भूमिका होती है। मॉर्गन, मॉर्क्स आदि विचारकों ने यह प्रमाणित करने की कोशिश की है कि सभ्यता और संस्कृति के विकास में भौतिक कारकों की अहम भूमिका होती है।

आधुनिक समाज में भी प्रौद्योगिकी जैसे भौतिक कारकों की सामाजिक परिवर्तन में स्पष्ट भूमिका दिखाई पड़ती है। आधुनिक सामाजिक संरचना के स्वरूप पर यदि आज सबसे अधिक किसी का प्रभाव है, तो वह है प्रौद्योगिक अनुसन्धान का। बड़े–बड़े उद्योगों के विकास से पुँज उत्पादन (Mass Production) में वृद्धि हुई, महानगरों का उदय हुआ, लोगों के प्रवास की प्रवृत्ति में वृद्धि हुई। संचार एवं यातायात के साधनों के विकास ने विश्व समाज का आकार छोटा कर दिया

है। आज रोज कुछ–न–कुछ नयी–नयी चीजें देखने को मिलती हैं, जिनसे वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन सीधा प्रभावित होता है। ऑगबर्न (William F-Ogburn) ने बताया है कि अकेले रेडियो ने विश्व में लगभग 150 प्रकार के परिवर्तनों को लाने में सहायता की है।

ज्ञान और विज्ञान में तरक्की के चलते भी भौतिक और सामाजिक पर्यावरण में युगान्तकारी परिवर्तन आये हैं। आज विकसित और विकासशील देशों के बीच बहुत बड़ा फर्क दिखाई पड़ता है। इस फर्क का बहुत बड़ा आधार प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल है। उसी तरह से आदिमकाल, प्राचीनकाल और आधुनिक काल के बीच भी जो फर्क है उसका आधार प्रौद्योगिकी है। प्राचीन समय में भौतिक पर्यावरण का मुख्य आधार प्राकृतिक पर्यावरण (Man-made Environment) था। मानव–समाज ने परिवर्तन की एक लम्बी दूरी तय की है जिसका मुख्य कारण यह है कि मानव समाज प्रकृति–प्रदत्त पर्यावरण से मानव–निर्मित पर्यावरण की ओर बढ़ा है। पूँजीवाद के विकास में निस्सन्देह इस प्रौद्योगिकी की भूमिका अहम रही है।

यातायात एवं जनसंचार के माध्यमों में विकास ने भी हमारे भौतिक पर्यावरण में काफी बदलाव ला दिया है। इसका मुख्य श्रेय समाज में निरन्तर प्रौद्योगिक परिवर्तन (Technological Change) को है। इससे समय एवं दूरी पर मानव ने अपना नियन्त्रण बना लिया है। फलस्वरूप भिन्न–भिन्न संस्कृतियों के बीच आदान–प्रदान की प्रक्रिया बढ़ी है।

प्रौद्योगिक विकास ने समाज में उद्योगीकरण की प्रक्रिया को बढ़ाया है। उत्पादन के साधनों में निरन्तर विस्तार हो रहा है। इससे एक नयी सामाजिक संरचना एवं व्यवस्था का निर्माण हो रहा है। हमारे जीवन के मूल्यों, आदर्शों एवं व्यवहार के प्रतिमानों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। आज संयुक्त परिवार की जगह मूल या दाम्पत्य परिवार (Nuclear or Conjugal Family) का निरन्तर विस्तार हो रहा है।

निरन्तर औद्योगिक विकास ने मानव के सामने भौतिक सुख–सुविधाओं को भोगने के अनेक विकल्पों को रख दिया है। मानव ने एक तरह से प्रकृति पर विजय पा ली है। विद्युत ऊर्जा के विकास से कृषि के क्षेत्र में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है। अकाल एवं महामारियों की समाप्ति से मृत्युदर में बहुत कमी आयी है। आज समाज में भौतिकवाद के विकास ने नकद पैसे के सम्बन्ध को प्रमुखता प्रदान की है। प्रौद्योगिक विकास ने सामाजिक गतिशीलता में भी मुख्य भूमिका निभाई है। आज पूरा विश्व एक गाँव जैसा है। विशिष्टीकरण

(Specialization) एवं श्रम–विभाजन (Division of Labour) की प्रक्रिया ने परस्परिक निर्भरता (Mutual Dependence) एवं व्यक्तिवाद (Individualism) को भी बढ़ावा दिया है। इससे आज लोगों के बीच द्वितीयक सम्बन्धों (Secondary Relationship) का विस्तार देखने को मिलता है।

सांस्कृतिक कारक (Cultural Factor) मार्क्स का कहना है कि सामाजिक परिवर्तन का सबसे अहम कारक आर्थिक है। सामाजिक संरचना और संस्कृति को उन्होंने अधिरचना (Super structure) माना। दूसरी तरफ कुछ ऐसे भी विचारक हुए हैं, जिन्होंने यह प्रमाणित किया है कि सांस्कृतिक मूल्यों में परिवर्तन से सिर्फ समाज एवं संस्कृति में ही नहीं, बल्कि अर्थव्यवस्था में भी परिवर्तन होता है। वैसे विचारकों में मैक्स वेबर का नाम सबसे आगे है। उन्होंने अपनी पुस्तक (The Protestant Ethic and the Spirit of Capitalism) (1958) में यह साबित कर दिया कि पाश्चात्य देशों में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के विकास में प्रोटेस्टेंट आचार–संहिता (Protestant Ethics) की बहुत बड़ी भूमिका रही है। मैक्स वेबर ने दुनिया के 6 बड़े धर्मों का अध्ययन किया, वे हैं–हिन्दू, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम, कन्फ्यूशियस तथा यहूदी। उन्होंने बताया है कि सामाजिक घटनाओं, सामाजिक जीवन या सामाजिक संगठन या आर्थिक व्यवस्था के निर्धारण में धर्म की भूमिका सबसे अधिक रही है।

चूँकि विज्ञान भी संस्कृति के दायरे में ही आता है, इसलिए हम कह सकते हैं कि संस्कृति के विकास ने मानव के इतिहास में अभूतपूर्व परिवर्तन किया है। आज भौतिक पर्यावरण में जो परिवर्तन आया है, उस परिवर्तन के पीछे विज्ञान की तरक्की है। चूँकि विज्ञान के द्वारा समाज में सबसे अधिक परिवर्तन हुआ है, इसलिए वर्तमान युग को

आधुनिक या वैज्ञानिक युग भी कहा जाता है। विज्ञान के विकास ने मनुष्य के स्वभाव को बहुत आलोचनात्मक (Critical) और खोजी (innovative) बना दिया है, जिसके चलते हमारे धार्मिक विश्वासों, व्यक्तिगत विश्वासों, विचारों, जीवन के उद्देश्यों में काफी परिवर्तन हुआ है है और इस परिवर्तन से पूरी सामाजिक संरचना, मूल्यों एवं प्रतिमानों में परिवर्तन हुआ है। आधुनिक समाज में परिवर्तन की गति तेज होने का एक ही कारण है कि विज्ञान में परिवर्तन बहुत तेजी से हो रहा है। दूसरे शब्दों में, ज्ञान और विज्ञान के विकास ने सामाजिक परिवर्तन की गति को अब तक के मानव के इतिहास में सबसे अधिक तीव्र कर दिया है। परिवर्तन के सांस्कृतिक कारक के सम्बन्ध में मैक्स वेबर का यह भी विचार उल्लेखनीय है कि विज्ञान के विकास ने प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में काफी परिवर्तन

किया है, जिसके माध्यम से सामाजिक, आर्थिक एवं नौकरशाही की व्यवस्था में भारी परिवर्तन आया है। परिवर्तन के इन कारकों के लिए उन्होंने एक नये शब्द का प्रयोग किया जो तर्कसंगत व्याख्या (Rationalization) के नाम से जाना जाता है। विवेकवादी प्रक्रिया ने हमारे जीवन के दार्शनिक (Philosophical), वैचारिक (Ideological) एवं धार्मिक (Religious) पहलुओं में बहुत ही उल्लेखनीय परिवर्तन किया है। संक्षेप में, मैक्स वेबर का मानना है कि सामाजिक परिवर्तन का मुख्य कारण विवेकवादी प्रक्रिया ही है।

परिवर्तन के सांस्कृतिक कारकों के सम्बन्ध में मानवशास्त्रियों के विचार भी काफी महत्त्वपूर्ण हैं। सामान्य तौर पर सभी मानवशास्त्री यही मानते हैं कि सांस्कृतिक प्रसार (Cultural Diffusion) एवं परसंस्कृति–ग्रहण (Acculturation) की प्रक्रिया से भी समाज में परिवर्तन आता है। इस सन्दर्भ में एम.एन. श्रीनिवास का 'पश्चिमीकरण की अवधारणा' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने बताया है कि भारतीय समाज में होने वाले परिवर्तनों के पीछे पश्चिमीकरण की बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। अंग्रेजी शासन की स्थापना से हमारी चिन्तनशैली, वैचारिक दृष्टिकोण, राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्था, खान–पान के तरीके, जाति व्यवस्था, शिक्षण पद्धति इत्यादि में काफी परिवर्तन आये हैं। इन प्रक्रियाओं को मानवशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में हम सांस्कृतिक प्रसार एवं संस्कृति–संक्रमण की प्रक्रिया मानते हैं। यातायात, संचार के माध्यमों एवं शिक्षा के विकास से विश्वस्तर पर संस्कृति–संक्रमण की प्रक्रिया तेज हुई है। प्रौद्योगिक विकास ने सामाजिक परिवर्तन के सांस्कृतिक कारकों के लिए एक उत्प्रेरक अभिकर्ता (Catalytic Agent) के रूप में कार्य किया है।

संक्षेप में, यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि संस्कृति जितना समाज को प्रभावित करती है, उतना ही समाज भी संस्कृति को प्रभावित करता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि संस्कृति एवं समाज के बीच एक सहजीवी सम्बन्ध (Symbiotic Relationship) है।

राजनीतिक व्यवस्था (Political Organization) विभिन्न व्यवस्थाओं के साथ–साथ राजनीतिक व्यवस्था में भी काफी परिवर्तन हुआ है। राजनीतिक व्यवस्था एवं सामाजिक संरचना के बीच एक सीधा सम्बन्ध है।

आदिमकाल में सामाजिक जीवन में राजनीति की भूमिका नगण्य थी। जैसे–जैसे राजनीतिक संस्थाओं में परिवर्तन हुआ, वैसे–वैसे सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में भी परिवर्तन होता गया। सरदार, मालिक, राजा (Chiefs, Lords, Kings) और राज्य के विकास ने समाज को सीधे ढंग से प्रभावित किया।

चरवाहे युग में जब राज्य का विकास नहीं हुआ था तो उस समय कबीलों के सरदार आपस में लड़ते रहते थे और लड़ाई में हार–जीत के फलस्वरूप विजयी एवं विजित समूहों में उसी के अनुरूप सामाजिक स्तरण का निर्माण होता था। जैसा कि गम्पलोविक्च (Gumplowicz) ने बताया है कि विजेता वर्ग शासन करने की स्थिति में रहता था और हारा हुआ व्यक्ति दास की श्रेणी में होता था। कभी–कभी दोनों समूहों के बीच सांस्कृतिक आदान–प्रदान की प्रक्रिया भी चलती थी।

सामन्ती युग में सामन्तों एवं आमलोगों के बीच शोषण पर आधारित सम्बन्ध हुआ करते थे। उस समय चूँकि राज्य का विकास नहीं हो पाया था, शासन जन–इच्छाओं के बदले सामन्तों की इच्छाओं से चलता था। सामन्तों की इच्छा ही कानून मानी जाती थी। लेकिन समय के साथ उस व्यवस्था में भी परिवर्तन आया। राज्य और प्रजातन्त्र का विकास साथ– साथ हुआ।

परम्परागत विशिष्ट वर्ग (Traditional Elitè) का प्रभाव समाज में गौण होने लगा। तानाशाही की प्रवृत्ति में कमी आयी, गुलामी और दास प्रथा का अन्त हुआ। हर किसी को सरकार बनाने और बदलने का अधिकार मिला । दुनिया के विभिन्न देशों में राजनीतिक क्षेत्र में इतनी क्रान्तियाँ आयीं कि राज्य का शासन जन–इच्छाओं से चलने लगा। राजनीतिक परिवर्तन से विभिन्न प्रकार की सामाजिक चेतना, आन्दोलनों एवं क्रान्तियों का जन्म हुआ। आदिम और आधुनिक समाज में फर्क का आधार आर्थिक ही नहीं, बल्कि राजनीतिक भी है। इसमें कोई शक नहीं कि राजनीतिक विचारों से भारी सामाजिक परिवर्तन आता है। मार्क्स और लेनिन के राजनीतिक विचारों ने समस्त विश्व को इस तरह से झकझोर दिया कि वे इतिहास पुरुष कहलाये । उसी तरह से भारत में गाँधी, टर्की में मुस्तफा केमाल पाशा और दक्षिण अफ्रीका में नेल्सन मण्डेला ने अपने देश के राजनीतिक जीवन में इतना उथल–पुथल मचाया कि विभिन्न किस्म के सामाजिक परिवर्तनों का एक ताँता–सा लग गया।

12.9 कुछ सम्बद्ध अवधारणाएँ (Some Related Concepts)

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया कई रूपों में प्रकट होती है, जैसे–उद्विकास (Evolution), प्रगति (Progres), विकास (Development), सामाजिक आन्दोलन (Social Movement), क्रान्ति (Revolution) इत्यादि । चूँकि इन प्रक्रियाओं का सामाजिक परिवर्तन से सीधा सम्बन्ध है या कभी–कभी इन सम्बन्धों को सामाजिक परिवर्तन का पर्यायवाची माना जाता है, इसलिए इन शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में काफी उलझनें हैं। इसका एक दूसरा कारण यह भी है कि कुछ

प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों ने अपनी पुस्तकों में इन अवधारणाओं का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है। इस बात की पुष्टि बॉटमोर (T-B- Bottomore, 1972) की इस उक्ति से होती है, "प्रारम्भिक समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की धारणा कभी–कभी तो उलझी हुई नजर आती है और तो कभी एक ही अवधारणा के अन्तर्गत वे सभी सम्मिलित दिखाई पड़ती हैं। चूँकि वे सभी शब्द एक–दूसरे से वर्तमान समाजशास्त्र में काफी भिन्न हैं, इसलिए इनकी चर्चा यहाँ अलग–अलग की जा रही है।

उद्विकास (Evolution)

सम्भवतः 'उद्विकास' शब्द का प्रयोग सबसे पहले जीव–विज्ञान के क्षेत्र में चार्ल्स डॉर्विन (Charles Darwin) ने किया था (ध्यान रहे 'उद्विकास' एक अशुद्ध शब्द है । हिन्दी एवं संस्कृत भाषा में 'उद्विकास' या 'उद्विकास' कोई शब्द नहीं है इसलिए 'उद्विकास' ही तर्कसंगत है।) डॉर्विन के अनुसार 'उद्विकास' की प्रक्रिया में जीव की संरचना सरलता से जटिलता (Simple to Comple) की ओर बढ़ती है। यह प्रक्रिया प्राकृतिक चयन (Natural Selection) के सिद्धान्त पर आधारित है। आरम्भिक समाजशास्त्री हर्बर्ट स्पेंसर ने जैविक परिवर्तन (Biological Changes) की भाँति ही सामाजिक परिवर्तन को भी कुछ आन्तरिक शक्तियों (Internal Force) के कारण सम्भव माना है और कहा है कि उद्विकास की प्रक्रिया धीरे–धीरे निश्चित स्तरों से गुजरती हुई पूरी होती है। संक्षेप में, उद्विकास की मान्यताओं को हम इस ढंग से प्रकट कर सकते हैं – आरम्भ में सभी जीव या वस्तु का स्वरूप सरल होता है और उद्विकास की प्रक्रिया जैसे–जैसे आगे बढ़ती है, उस वस्तु या जीव के निर्णायक अंग पृथक् और स्पष्ट रूप से अपना काम करते हैं।

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में उद्विकास की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए मैकाइवर और पेज (1985) ने लिखा है कि उद्विकास विकास से आगे स्तर की चीज है (Evolution means more than growth-) उद्विकास एक किस्म का विकास है। पर प्रत्येक विकास उद्विकास नहीं है, क्योंकि विकास की एक निश्चित दिशा होती है, पर उद्विकास की कोई निश्चित दिशा नहीं होती है। किसी भी क्षेत्र में विकास करना उद्विकास कहा जायेगा। मैकाइवर और पेज ने बताया है कि उद्विकास सिर्फ आकार में ही नहीं, बल्कि संरचना में भी विकास है। यदि समाज के आकार में वृद्धि नहीं होती है और वह पहले से ज्यादा आन्तरिक रूप से जटिल हो जाता है, तो उसे उद्विकास कहेंगे। उद्विकास की प्रक्रिया को विकास नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि विकास एक निश्चित दिशा में वृद्धि का नाम है । उसी तरह आकार की वृद्धि को विकास की संज्ञा

नहीं दे सकते हैं । उद्विकास तो एक आन्तरिक प्रक्रिया है, जो स्वतः प्राकृतिक नियमों से संचालित होती रहती है। वर्ण व्यवस्था का जाति व्यवस्था में परिवर्तित होना उद्विकास का एक उदाहरण है, क्योंकि वर्ण व्यवस्था की तुलना में जाति व्यवस्था में अधिक जटिलता आयी है।

प्रगति (Progress)

जब किसी परिवर्तन को समाज के हित में अच्छा या लाभकारी माना जाता है, तो उसे प्रगति (Progres) कहा जाता है। प्रगति सामाजिक परिवर्तन की एक निश्चित दिशा को दर्शाती है। प्रगति में समाज – कल्याण और सामूहिक हित की भावना छिपी होती है। ऑगबर्न एवं निमकॉफ ने बताया है कि प्रगति का अर्थ अच्छाई के निमित्त परिवर्तन हैं, इसलिए प्रगति इच्छित परिवर्तन है। इसके माध्यम से हम पूर्व निर्धारित लक्ष्यों को पाना चाहते हैं।

मैकाइवर और पेज (1985) का सुझाव है कि हमलोगों को उद्विकास और प्रगति को एक ही अर्थ में प्रयोग नहीं करना चाहिए। दोनों बिलकुल अलग–अलग अवधारणाएँ हैं। प्रगति कहने से एक निश्चित दिशा में विकास का बोध होता है और वह विकास हमेशा इच्छित विकास होता है। समाज के लोग यह चाहते हैं कि किसी विशेष किस्म की प्रगति चलनी चाहिए। वैज्ञानिक शिक्षा का प्रचार–प्रसार होना प्रगति का एक उदाहरण है, क्योंकि इसके माध्यम से समाज को हम एक इच्छित दिशा में ले जाना चाहते हैं। इस तरह प्रगति एक योजनाबद्ध सामाजिक परिवर्तन (Planned Social Change) है। मनुष्य के ज्ञान में वृद्धि होना उद्विकास कहा जायेगा। इस बात की पुष्टि मकीवर और पेज (Maclver and Page 1985) के इन विचार से होती है कि जब हम प्रगति की बात करते हैं, तो इससे हमारा तात्पर्य सिर्फ परिवर्तन की दिशा मात्र से नहीं, बल्कि किसी आखिरी उद्देश्य की दिशा में परिवर्तन से होता है। किसी दिशा में कार्यरत कारकों के वस्तुपरक आधार को ध्यान में रखकर ही नहीं, बल्कि कभी–कभी कुछ दिशाओं का निर्धारण तो काल्पनिक ढंग से भी किया जाता है।

सामाजिक प्रगति की अवधारणा को अच्छी तरह समझने के लिए प्रगति एवं उद्विकास के बीच के अन्तर को ध्यान में रखना उपयुक्त प्रतीत होता है। दोनों के बीच मुख्य अन्तर निम्नलिखित हैं–

उद्विकास की प्रक्रिया स्वतः प्राकृतिक नियमों के अनुसार चलती है, जबकि प्रगति वांछित दिशा की ओर एक सुनियोजित परिवर्तन है।

उद्विकास एक मूल्य–निरपेक्ष अवधारणा है, जबकि प्रगति मूल्य–धारित (Value

Loaded) अवधारणा है। उद्विकास को समाज और संस्कृति में अन्तर्निहित कारकों पर आधारित माना जाता है, जबकि प्रगति मानव की उन्नति की भावना से जुड़ी हुई है। यह मानव के सार्थक प्रयासों को दर्शाता है। उद्विकास की प्रक्रिया धीमी गति से चलती है, जबकि प्रगति की प्रक्रिया धीमी या तीव्र कुछ भी हो सकती है। उद्विकास जीवों के विकास की अवधारणा से जुड़ा है। जीव–विज्ञान के बाद ही सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन में उद्विकास की अवधारणा प्रचलित हुई है। दूसरी ओर, प्रगति की अवधारणा इतिहास दर्शन से प्रभावित है। उद्विकास का परिप्रेक्ष्य विश्वव्यापी होता है, जबकि प्रगति का परिप्रेक्ष्य एक देश या समाजविशेष होता है।

विकास (Development)

उद्विकास की तरह विकास की अवधारणा भी बहुत स्पष्ट नहीं है। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में इसके अर्थ के सम्बन्ध में कोई विशेष विवाद नहीं है, पर समाजशास्त्र के क्षेत्र में इस शब्द का प्रयोग काफी ढीले–ढाले अर्थों में होता आया है। इसका शाब्दिक अर्थ किसी चीज के क्रमशः फैलाव से है, जैसे किसी बच्चे की लम्बाई या घूसखोरी में समय के साथ जो वृद्धि होती है, तो उसे विकास कहा जा सकता है। पर समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में विकास का अर्थ सामाजिक विकास से है। प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों, विशेषकर कौंत, स्पेंसर एवं हॉबहाउस, ने सामाजिक उद्विकास (Social Evolution), प्रगति (Progress) एवं सामाजिक विकास (Social Development) का समान अर्थ में प्रयोग किया था। आधुनिक समाजशास्त्री इन शब्दों को कुछ विशेष अर्थ में ही इस्तेमाल करते हैं।

साधारणतया वर्तमान समाजशास्त्र के क्षेत्र में विकास से हमारा तात्पर्य मुख्यतः सामाजिक विकास से है। इसका प्रयोग विशेषकर उद्योगीकरण एवं आधुनिकीकरण के चलते विकसित एवं विकासशील देशों के बीच अन्तर स्पष्ट करने के लिए होता है। सामाजिक विकास में आर्थिक विकास का भी भाव छिपा होता है और उसी के तहत हम परम्परागत समाज (Traditional Society), संक्रमणशील समाज (Transitional Society) एवं आधुनिक समाज (Modern Society) की चर्चा करते हैं। यहाँ कोई उद्विकास का भाव नहीं है। यहाँ कुछ उसी तरह का भाव है, जो शिक्षा के विकास में छिपा है। आधुनिक शिक्षा का विकास भी एक प्रकार का सामाजिक विकास है। उसी तरह से कृषि पर आधारित सामाजिक व्यवस्था से उद्योग पर आधारित सामाजिक व्यवस्था की ओर अग्रसर होना भी सामाजिक विकास कहा जायेगा। दूसरे शब्दों में, सामन्तवाद (Feudalism) से पूँजीवाद (Capitalism) की ओर जाना भी एक प्रकार का विकास है।

वर्तमान समय में सामाजिक विकास को एक वस्तुनिष्ठ अर्थ में प्रयोग करने की चेष्टा की जाती है। संयुक्त राष्ट्रसंघ (United Nation) की विभिन्न रपटों में सामाजिक विकास को मापने के सूचक (Indices) एवं पैमाने (Scales) दिये गये हैं। सामाजिक विकास के कुछ प्रमुख संकेतक (Indicators) इस प्रकार हैं–जीवनयापन का स्तर (Level of standard of living) गरीबी का स्तर (Level of poverty), शिक्षा का स्तर (Level of education), समाज के दबे–कुचले लोगों को ऊपर उठने का अवसर (Opportunity for upward mobility for downtroddens), सरकार के द्वारा सामाजिक कल्याण का अवसर (Opportunity of social welfare by government), समाज में आर्थिक असमानता (Level of economic disparities), स्वास्थ्य का स्तर (Level of health condition), जन्म के समय जीवन – प्रत्याशा (Epectancy of life at birth) इत्यादि ।

चूँकि उद्विकासएवं प्रगति (Evolution and Progress) के अर्थ के सम्बन्ध में काफी विवाद और भ्रम रहा है, इसलिए ऑगबर्न (W- F- Ogburn, 1922) ने उन शब्दों की जगह सामाजिक परिवर्तन (Social Change) शब्द का प्रयोग किया है, जिसके अन्तर्गत सभी किस्म के उद्विकास और प्रगति से जुड़े परिवर्तन आ जाते हैं। इसमें कोई सन्देह की बात नहीं है कि सामाजिक परिवर्तन एक बृहत्तर शब्द है, जिसके अन्तर्गत उद्विकास (Evolution), प्रगति (Progress), सामाजिक विकास (Social Development), सामाजिक आन्दोलन (Social Movement) एवं क्रान्ति (Revolution) समाहित हो जाते हैं।

सामाजिक आन्दोलन (Social Movement)

आधुनिक काल में सामाजिक आन्दोलन सामाजिक परिवर्तन का एक बहुत महत्त्वपूर्ण कारक रहा है। विशेषकर परम्परागत समाज में सामाजिक आन्दोलनों के द्वारा काफी परिवर्तन आये हैं। इसलिए इनकी चर्चा यहाँ की जानी चाहिए। लेकिन इस शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में थोड़ी कठिनाइयाँ हैं। अतः इस अवधारणा की विशेष रूप से चर्चा की जा रही है। गिडेन्स (Giddens,1998) ने सामाजिक आन्दोलन को निम्नलिखित ढंग से परिभाषित किया है –सामाजिक आन्दोलन को एक ऐसे सामूहिक प्रयास के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसका लक्ष्य सामान्य हित को बढ़ाना होता है। सामान्य हित को प्राप्त करने के लिए किया गया सामूहिक प्रयास कभी – कभी मान्य या स्थापित संस्थाओं के दायरे से बाहर भी होता है। अर्थात् सामाजिक आन्दोलन व्यक्तियों का ऐसा सामूहिक प्रयास है, जिसका एक सामान्य उद्देश्य होता है और उद्देश्य

की पूर्ति के लिए संस्थागत सामाजिक नियमों का सहारा न लेकर लोग अपने ढंग से व्यवस्थित होकर किसी परम्परागत व्यवस्था को बदलने का प्रयास करते हैं।

गिडेन्स ने कहा है कि कभी–कभी ऐसा लगता है कि सामाजिक आन्दोलन और औपचारिक संगठन (Formal Organization) एक ही तरह की चीजें हैं, पर दोनों बिलकुल भिन्न हैं । सामाजिक आन्दोलन के अन्तर्गत नौकरशाही व्यवस्था जैसे नियम नहीं होते, जबकि औपचारिक व्यवस्था के अन्तर्गत नौकरशाही नियम–कानून की अधिकता होती है। इतना ही नहीं दोनों के बीच उद्देश्यों का भी फर्क होता है। विश्वविद्यालय एक औपचारिक व्यवस्था है, पर सामाजिक आन्दोलन नहीं। उसी तरह से कबीर पंथ, आर्य समाज, ब्रह्म समाज या हाल का पिछड़ा वर्ग आन्दोलन (Backward Class Movement) को सामाजिक आन्दोलन कहा जा सकता है, औपचारिक व्यवस्था नहीं। पर कभी – कभी दोनों के बीच की दूरी इतनी कम रहती है कि सामाजिक आन्दोलन और औपचारिक व्यवस्था के बीच अन्तर दर्शाना कठिन काम हो जाता है।

कभी–कभी सामाजिक आन्दोलन एवं स्वार्थ समूह (Interest Groups) के बीच अन्तर स्पष्टतः दिखाई नहीं पड़ता है, अर्थात् दोनों पर्यायवाची जैसे लगते हैं, लेकिन दोनों में फर्क है। सामाजिक आन्दोलन परम्परागत व्यवस्था के विरोध में एक स्थापित जनसमूह है, जबकि स्वार्थ समूह कुछ व्यक्तियों का ऐसा समूह है जिसका मुख्य उद्देश्य अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए नीति निर्धारकों का विचार प्रभावित करना होता है। स्वार्थ समूह साधारणतया राजनीतिक या नौकरशाही व्यवस्था के क्षेत्र में काम करता है, जबकि सामाजिक आन्दोलन का दायरा उससे काफी बड़ा होता है।

आबर्ली (David Aberle, 1966) ने सामाजिक आन्दोलन को चार भागों में बाँटा है, वे इस तरह से हैं–

रूपान्तरकारी आन्दोलन (Transformative Movement) – कुछ ऐसे भी सामाजिक आन्दोलन होते हैं, जिनका मुख्य उद्देश्य बुनियादी सामाजिक परिवर्तन होता है। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कभी–कभी लोग हिंसा की नीति भी अपनाते हैं, जैसे–नक्सलबाड़ी आन्दोलन ।

सुधारात्मक आन्दोलन (Reformative Movement) समाज में कुछ आन्दोलन ऐसे भी होते हैं, जिनका उद्देश्य सीमित सामाजिक परिवर्तन होता है। जब समाज में कुछ दुर्गुण या बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं तो उसे दूर करने के लिए सामाजिक आन्दोलन चलाना पड़ता है, ताकि मूल व्यवस्था को जीवन्त एवं

उपयोगी बनाये रखा जाय। भारत में सूफी आन्दोलन, ब्रह्म समाज आन्दोलन एवं आर्य समाज आन्दोलन इसी किस्म के आन्दोलन माने जाते हैं।

मुक्ति आन्दोलन (Redemptive Movement) – कभी – कभी समाज में ऐसी बुराइयाँ फैल जाती हैं, जो पूरे समाज के लिए खतरा बन जाती हैं। ऐसी स्थिति में कुछ ऐसे आन्दोलन चलाए जाते हैं, जिससे समाज को ठीक से बनाये रखने में मदद मिलती है। घूसखोरी एक ऐसी समस्या है, जिससे पूरी राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था को खतरा है। यदि घूसखोरी को रोकने के लिए कोई आन्दोलन चलाया जाये तो ऐसे आन्दोलन को मुक्ति आन्दोलन कहेंगे। चूँकि कबीर ने ब्राह्मणों एवं मुल्लाओं के कुप्रभावों से समाज को बचाने के लिए एक आन्दोलन चलाया था, इसलिए कबीर–पंथ को एक मुक्ति आन्दोलन कहा जा सकता है। उसी तरह आधुनिक भारत में बाबा साहेब आम्बेडकर का अछूतोद्धार (Remove Untouchability) का कार्य एक मुक्ति आन्दोलन था।

वैकल्पिक आन्दोलन (Alternative Movement) – वैकल्पिक आन्दोलन वह आन्दोलन है, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति के जीवन में आंशिक परिवर्तन की कोशिश की जाती है। आज बहुत सारी ऐसी स्वयंसेवी संस्थाएँ हैं, जो धूम्रपान एवं नशाखोरी के विरोध में देश में आन्दोलन चला रही हैं। उनकी कोशिश यह हो रही है कि व्यक्ति के जीवन में ऐसे परिवर्तन लाये जायें, जिनसे उन्हें उनकी बुरी आदतों से मुक्ति मिले और ऐसी बुराई समाज में और नहीं फैले। यहाँ गौर करने की बात यह है कि वैकल्पिक आन्दोलन ऐसा आन्दोलन है, जिसके द्वारा समाज के कुछ व्यक्तियों के जीवन में आंशिक परिवर्तन लाने की कोशिश की जाती है, अर्थात् अन्य तीन किस्म के सामाजिक आन्दोलनों की तुलना में इसका दायरा थोड़ा छोटा है।

क्रान्ति (Revolution)

क्रान्ति सामाजिक आन्दोलन से भी ज्यादा सामाजिक परिवर्तन का सशक्त माध्यम है, इसलिए यहाँ इसकी भी चर्चा आवश्यक है। क्रान्ति के द्वारा सामाजिक परिवर्तन के अनगिनत उदाहरण मौजूद हैं। लेकिन पिछली दो–तीन शताब्दियों में मानव इतिहास में काफी बड़ी–बड़ी क्रान्तियाँ आयी हैं, जिन क्रान्तियों ने कुछ मुल्कों के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में युगान्तकारी परिवर्तन किया है, उनमें 1775–1783 की अमरीकी क्रान्ति एवं 1789 की फ्रांसीसी क्रान्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन क्रान्तियों के चलते आज समस्त विश्व में स्वतन्त्रता (स्पइमतजल), सामाजिक समानता (Social Equality) और प्रजातन्त्र (Democracy) की बात की जाती है। उसी तरह से रूसी और चीनी क्रान्ति का

विश्वस्तर पर अपना ही महत्त्व है। एब्रेम्स (Abram, 1982) ने बताया है कि विश्व में अधिकांश क्रान्तियाँ मौलिक सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए हुई हैं। हेना अरेंड ने बताया है कि क्रान्तियों का मुख्य उद्देश्य परम्परागत व्यवस्था से अपने आपको अलग करना एवं नये समाज का निर्माण करना है। इतिहास में कभी–कभी इसका अपवाद भी देखने को मिलता है। कुछ ऐसी भी क्रान्तियाँ हुई हैं, जिनके द्वारा हम समाज को और भी पुरातन समय में ले जाने की कोशिश करते हैं। कुछ ही समय पहले ईरान के अन्तर्गत खुमैनी के नेतृत्व में जो क्रान्ति हुई, उसका मुख्य उद्देश्य बदलते हुए ईरानी समाज पर इस्लाम को पुनः अधिक–से–अधिक स्थापित करने की कोशिश थी।

क्रान्ति किसे कहते हैं इसे स्पष्ट करने की आवश्यकता हैं, लेकिन क्रान्ति की परिभाषा थोड़ी कठिन है, क्योंकि यह बहुत कुछ मूल्य – धारित अर्थ रखती है। एन्थनी गिडेन्स (Gidden, 1998) ने कहा है कि क्रान्ति को हमलोग राज्य शक्तियों का जन–आन्दोलन के नेताओं के द्वारा हिंसात्मक तरीकों से जबरदस्ती हड़पने के प्रयास के तरीकों के रूप में परिभाषित कर सकते हैं, जहाँ पुनः उस शक्ति का प्रयोग वृहत सामाजिक सुधार के लिए किया जाता है। प्रमुख रूप से इस परिभाषा में तीन बातें कही गयी हैं– (क) क्रान्ति एक राजनीतिक प्रक्रिया है, क्योंकि इस प्रक्रिया के अन्तर्गत सत्ता का हस्तांतरण (Transfer of Power) होता है, (ख) क्रान्ति का माध्यम एक हिंसक आन्दोलन होता है और (ग) क्रान्ति का उद्देश्य मौलिक सामाजिक परिवर्तन होता है।

किसी सामाजिक आन्दोलन को क्रान्ति कहा जाये या नहीं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उस क्रान्ति के अन्तर्गत निम्नलिखित शर्तें मौजूद हैं या नहीं। गिडेन्स के अनुसार सामाजिक आन्दोलन को क्रान्ति कहे जाने के लिए तीन शर्तों का पूरा होना अति आवश्यक है, वे हैं– (i) क्रान्ति कई घटनाओं की एक कड़ी नहीं है, बल्कि यह एक बड़े पैमाने पर विशाल जन आन्दोलन है। पर यदि कोई आन्दोलन चुनाव के माध्यम से सत्ता के हस्तांतरण में सफल होता है, तो उसे क्रान्ति नहीं कहा जायेगा। (ii) उसी तरह यदि कोई उच्च सेना अधिकारी शासन की बागडोर जबर्दस्ती एकाएक छीन या हथिया लेता है, तो उसे भी क्रान्ति की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। क्रान्ति का मुख्य उद्देश्य वृहत सामाजिक सुधार या परिवर्तन है। नेताओं में इतनी क्षमता होनी चाहिए कि जिन उद्देश्यों के लिए क्रान्ति की गयी है, उसे बहुत हद तक वे अमलीजामा पहनाने में सफल हों। इस बात की पुष्टि स्कॉकपॉल एवं जॉन डन (T- Skocpol, 1979 and John Dunn, 1972) ने भी किया है। (iii) क्रान्ति एक राजनीतिक परिवर्तन है जिसका मुख्य आधार हिंसा होता है। समाज में इसकी तभी आवश्यकता पड़ती

है, जब समाज में वर्तमान नेता कुछ सही सोचने एवं मानने के लिए तैयार नहीं होते हैं।

यदि किसी सामाजिक आन्दोलन में ये तीन बातें मौजूद नहीं हैं तो उसे हम मात्र सामाजिक आन्दोलन कहेंगे, क्रान्ति नहीं । क्रान्ति की अवधारणा में एक बात और छिपी है कि इसके द्वारा सिर्फ नयी सामाजिक संरचना की स्थापना ही नहीं होती है, बल्कि विकास की नयी सम्भावनाएँ भी बनती है, अर्थात् क्रान्ति में प्रगति या सामाजिक विकास (Progress or Social Development) की अवधारणा भी सन्निहित है। क्रान्ति मात्र सत्ता के हस्तांतरण की प्रक्रिया नहीं है। यह एक शर्त अवश्य है, पर किसी निश्चित उद्देश्य के अभाव में इस प्रक्रिया को सही मायने में क्रान्ति नहीं कहा जा सकता है। कुछ विचारकों का कहना है कि क्रान्ति का स्वरूप अहिंसक भी हो सकता है।

मानव के इतिहास में कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं, जिसे क्रान्ति की संज्ञा दी जाती है पर उस क्रान्ति में कोई हिंसा की बात नहीं थी। इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) एक अहिंसक क्रान्ति का उदाहरण है। इस उदाहरण से ऐसा लगता है कि क्रान्ति का स्वरूप सिर्फ राजनीतिक नहीं, बल्कि आर्थिक भी हो सकता है। इस औद्योगिक क्रान्ति को सही मायने में क्रान्ति कहा जाये या नहीं यह एक विवाद का विषय है। पर इतना तो निश्चित है कि ऐसी क्रान्ति को जॉन डन, स्कॉकपॉल एवं एन्थनी गिडेन्स क्रान्ति नहीं मानते हैं।

12.10 सारांष (Summary)

आज विकसित और विकासशील देशों के बीच बहुत बड़ा फर्क दिखाई पड़ता है। इस फर्क का बहुत बड़ा आधार प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल है। उसी तरह से आदिमकाल, प्राचीनकाल और आधुनिक काल के बीच भी जो फर्क है उसका आधार प्रौद्योगिकी है। प्राचीन समय में भौतिक पर्यावरण का मुख्य आधार प्राकृतिक पर्यावरण (Man-made Environment) था। मानव–समाज ने परिवर्तन की एक लम्बी दूरी तय की है जिसका मुख्य कारण यह है कि मानव समाज प्रकृति–प्रदत्त पर्यावरण से मानव–निर्मित पर्यावरण की ओर बढ़ा है। पूँजीवाद के विकास में निस्सन्देह इस प्रौद्योगिकी की भूमिका अहम रही है। निरन्तर औद्योगिक विकास ने मानव के सामने भौतिक सुख–सुविधाओं को भोगने के अनेक विकल्पों को रख दिया है। मानव ने एक तरह से प्रकृति पर विजय पा ली है। विद्युत ऊर्जा के विकास से कृषि के क्षेत्र में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है। अकाल एवं महामारियों की समाप्ति से मृत्युदर में बहुत कमी आयी है। आज समाज में भौतिकवाद के विकास ने नकद पैसे के सम्बन्ध को प्रमुखता प्रदान

की है। प्रौद्योगिक विकास ने सामाजिक गतिशीलता में भी मुख्य भूमिका निभाई है। आज पूरा विश्व एक गाँव जैसा है। विशिष्टीकरण (Specialization) एवं श्रम–विभाजन (Division of Labour) की प्रक्रिया ने परस्परिक निर्भरता (Mutual Dependence) एवं व्यक्तिवाद (Individualism) को भी बढ़ावा दिया है। इससे आज लोगों के बीच द्वितीयक सम्बन्धों (Secondary Relationship) का विस्तार देखने को मिलता है।

12.11 बोध प्रश्न (Check Your Progress)

1. सामाजिक परिवर्तन का अर्थ एवं परिभाषा लिखिए।

2. सामाजिक परिवर्तन के प्रकारों का विस्तृत उल्लेख कीजिए।

3. सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख स्रोतों का वर्णन कीजिए।

4. सामाजिक परिवर्तन में विकास एवं प्रगति की विवेचना कीजिए।

12.12 वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective type question)

1. सामाजिक परिवर्तन का निम्नलिखित में से क्या अर्थ है–

   (अ) समाज में परिवर्तन

   (ब) संस्कृति में परिवर्तन

   (स) सामाजिक संरचना में परिवर्तन

   (द) वर्गों में परिवर्तन

2. निम्नलिखित में से कौन एक सामाजिक परिवर्तन का जनांकिकी कारक है?

   (अ) उत्प्रवसन एवं अप्रवसन

   (ब) प्रौद्योगिक आविष्कार

   (स) औद्यागिक एवं प्रौद्योगिक विकास

   (द) ग्रामीण एवं शहरी प्रथाओं में अन्तर

3. निम्नलिखित में से सिससे संस्थात्मक परिवर्तन का बोध होता है ?

   (अ) व्यवस्था में परिवर्तन (ब) प्रस्थिति में परिवर्तन

   (स) मूल्यों में परिवर्तन (स) जनसंख्या के आकार में परिवर्तन

4. निम्नलिखित में से क्या सामाजिक परिवर्तन में बाधक है ?

(अ) अज्ञानता

(ब) निहित स्वार्थ

(स) परम्परा

(द) उपरोक्त सभी

उत्तर– 1–(स) 2– (अ) 3– (अ) 4– (स)

12.13 संदर्भ ग्रन्थ सूची Bibiliography

- हुसैन मुजतबा (2008) ''प्रारम्भिक समाजशास्त्र'' जवाहर पब्लिसर एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।
- महाजन एण्ड महाजन (2022) ''भारत में समाज : संरचना संगठन एवं परिवर्तन'' विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर, नई दिल्ली।
- Aubert, Vilhelm (1963) "Competition and Dissensur" Two type of conflict and conflict Resolution." Journal of conflict Resolution
- एम. अब्राहम (1982) ''माडर्न सोसियोलाजिकल थियरी'' ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस बाम्बे
- कोजर लेविस (1956) ''द फंक्शन ऑफ सोसल कानफ्लिक्ट'' फ्री प्रेस न्यूयार्क।
- गिडेन्स एन्थॉनी (1993) ''सोसियोलॉजी'' पोलिटी प्रेस कैम्ब्रिज।
- सोरोकिन पित्रिम ए (1978) ''कन्टेम्परेरी सोसियोलॉजिकल थियरी'' कल्याणी पब्लिकेशन नई दिल्ली।
- धर्मेन्द्र (2008) ''समाजशास्त्र'' टाटा मैग्रा हिल प्रकाशन नई दिल्ली
- सिंह जे0 पी0 (2019) ''आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन'' द्वितीय संस्करण, पी0एच0आई0 प्राइवेट लिमिटेट नई दिल्ली।
- दोषी एवं जैन (2013) ''भारतीय समाज संरचना एवं परिवर्तन'' नेशनल पब्लिकेशन हाउस, जयपुर
- सिंह बी0एन0 जनमेजय (2020) ''भारत में सामाजिक आन्दोलन'' रावत पब्लिकेशन, जयपुर।
- अग्रवाल जी.के. (2017) ''समाजशास्त्र'' एस0बी0पी0डी0 पब्लिशिंग हाउस, आगरा।

इकाई 13 : सामाजिक गतिषीलता : अर्थ एंव प्रकार

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 सामाजिक गतिषीलता : अर्थ एंव प्रकार

13.3 सामाजिक गतिषीलता के प्रकार

13.4 उदग्र अथवा शीर्ष गतिषीलता

13.5 अन्तः पीढ़ी तथा अन्तर–पीढ़ी गतिषीलता

13.6 सामाजिक गतिषीलता में वृद्धि के कारक

13.7 सामाजिक गतिषीलता के सिद्धान्त

13.8 सामाजिक गतिषीलता के प्रभाव अथवा परिणाम

13.9 सारांष

13.10 बोध प्रष्न

13.11 वस्तुनिष्ठ प्रष्न

13.12 वस्तुनिष्ठ प्रष्न के उत्तर

13.13 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

13.1 प्रस्तावना (Intoduction)

सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा तथा इससे सम्बन्धित विभिन्न पक्षों को समझने के साथ सामाजिक गतिषीलता की अवधारणा को समझना भी आवष्यक है। वास्तव में, सामाजिक परिवर्तन तथा सामाजिक गतिषीलता की अवधारणाएँ एक–दूसरे से इतनी मिलती–जुलती हैं कि अक्सर एक के स्थान पर दूसरी का प्रयोग कर लिया जाता है। आरम्भ में ही यह ध्यान रखना आवष्यक है कि गतिषीलता, सामाजिक परिवर्तन का एक विशेष रूप है। इस दृष्टिकोण से सामाजिक गतिषीलता की तुलना में सामाजिक परिवर्तन का क्षेत्र कहीं अधिक व्यापक है। अनेक विद्वानों का विचार है कि सामाजिक गतिषीलता की अवधारणा का मुख्य सम्बन्ध वर्तमान औद्योगिक समाजों से है । इन समाजों में एक ऐसी

संरचना का विकास हुआ है जिसमें विभिन्न व्यक्ति न केवल स्थान परिवर्तन करते रहते हैं, बल्कि अपनी सामाजिक और व्यावसायिक स्थिति में भी परिवर्तन के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। संक्षेप में, पहली स्थिति को स्थानीय गतिषीलता (Spatial mobility) तथा दूसरी को सामाजिक गतिषीलता (Social mobility) के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

13.2 सामाजिक गतिषीलता का अर्थ (Meaning of Social Mobility)

सामाजिक गतिषीलता की अवधारणा को सामाजिक परिवर्तन के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है । जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सामाजिक परिवर्तन का तात्पर्य उन परिवर्तनों से है जो सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक संरचना तथा सामाजिक संस्थाओं और मूल्यों में उत्पन्न होते हैं। इसके विपरीत, सामाजिक गतिषीलता को परिभाषित करते हुए सोरोकिन (Sorokin) ने लिखा है, '' सामाजिक गतिषीलता का अर्थ एक सामाजिक स्थिति से दूसरी सामाजिक स्थिति में किसी व्यक्ति, सामाजिक तथ्य अथवा सामाजिक मूल्य का संक्रमण (transition) होना है ।

इस कथन से स्पष्ट होता है कि सामाजिक गतिषीलता का सम्बन्ध मुख्य रूप से दो दशाओं में होने वाले परिवर्तन से है – 1. विभिन्न व्यक्तियों अथवा समूहों की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन होना, तथा (2) विभिन्न दशाओं के प्रभाव से सामाजिक मूल्यों में इस तरह परिवर्तन हो जाना जिससे व्यक्तियों की प्रस्थिति में परिवर्तन होने लगे । उदाहरण के लिए, भारत में निम्न जातियों, स्त्रियों तथा श्रमिकों की सामाजिक और आर्थिक प्रस्थिति में होने वाला सुधार पहली दशा को स्पष्ट करता है। दूसरी दशा को औद्योगिक विकास के सन्दर्भ में समझा जा सकता है। इसे स्पष्ट करते हुए डेनिस चौपमैन (Dennis Chapman) ने लिखा है कि ''औद्योगीकरण का विकास होने से समाज में एक ऐसा नया संस्तरण विकसित हुआ जिसमें, सम्पत्ति, शिक्षा, व्यक्तिगत योग्यता तथा आर्थिक शक्ति के आधार पर व्यक्ति को समाज में एक नई प्रस्थिति तथा सम्मान प्राप्त होने लगा। इसके फलस्वरूप परम्परागत रूप से जिन लोगों को सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में अधिक शक्तियाँ मिली हुई थीं, उनमें बहुत कमी हो गई तथा यह शक्तियाँ उन लोगों को प्राप्त होने लगी जो कुछ समय पहले तक सामाजिक और आर्थिक अधिकारों से वंचित थे ।

- **हार्टन तथा हन्ट** (Harton and Hant) ने सोरोकिन के विचारों का ही समर्थन करते हुए लिखा है, "सामाजिक गतिषीलता का अर्थ व्यक्तियों का पहले की तुलना में उच्च या निम्न सामाजिक प्रस्थितियों में

संचारित या स्थानांतरित होना है।'' इससे यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक गतिषीलता वह दशा है जिसमें विभिन्न व्यक्तियों या समूहों की प्रस्थिति पहले की तुलना में ऊँची या नीची हो जाती है।

- **फिचर** (Bitcher) के शब्दों में, ''सामाजिक गतिषीलता किसी व्यक्ति, समूह या श्रेणी (Category) द्वारा एक सामाजिक पद या प्रस्थिति समूह (Stratum) से दूसरे में प्रवेश करना है।
- **प्रोफेसर पीटर** (Peter) ने लिखा है, ''एक समाज के अन्तर्गत विभिन्न व्यक्तियों या समूहों के जीवन में होने वाली प्रस्थिति, व्यवसाय तथा निवास स्थान सम्बन्धी परिवर्तन को ही सामाजिक गतिषीलता कहा जाता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से सामाजिक गतिषीलता की चार मुख्य विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं– (1) सामाजिक गतिषीलता वह दशा है जिसमें कुछ व्यक्तियों या समूहों की प्रस्थिति में परिवर्तन हो जाता है (2) प्रस्थिति में होने वाला यह परिवर्तन एक विशेष सामाजिक संरचना के अन्तर्गत ही होता है (3) सामाजिक गतिषीलता की कोई निश्चित दिशा नहीं होती, यह ऊपर या नीचे की ओर होने के साथ कभी–कभी समानान्तर प्रकृति की भी हो सकती है। एक श्रमिक द्वारा चुनाव जीतकर मंत्री बन जाना ऊपर की ओर होने वाला परिवर्तन है, जबकि किसी उद्योगपति या नेता की आर्थिक या राजनीतिक शक्ति समाप्त हो जाने के कारण उसका जीवन सामान्य नागरिक के रूप में बदल जाना नीचे की ओर और होने वाले परिवर्तन को स्पष्ट करता है । समानान्तर परिवर्तन वह है जब किसी व्यक्ति द्वारा एक व्यवसाय को छोड़कर दूसरे व्यवसाय में जाने के बाद भी उसकी सामाजिक तथा आर्थिक प्रस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता (4) एक बन्द सामाजिक संरचना वाले समाजों की तुलना में खुली सामाजिक संरचना वाले समाजों में सामाजिक गतिषीलता अधिक पायी जाती है।

यदि हम भारत का उदाहरण लें तो स्पष्ट होता है कि यहाँ लोकतन्त्र की स्थापना के बाद जब निम्न जातियों की निर्योग्यताओं को समाप्त करके उन्हें विकास के विभिन्न अवसर दिये जाने लगे तो उनकी परम्परागत प्रस्थिति में व्यापक सुधार हो गया। दूसरी ओर जमींदारी प्रथा का उन्मूलन हो जाने से जमींदार वर्ग का बड़ा हिस्सा अपने भरण–पोषण तक की सुविधाएँ पाने से भी वंचित हो गया तथा उसकी सामाजिक–आर्थिक प्रस्थिति बहुत निम्न हो गई। परिवहन के साधनों का विकास होने से बहुत बड़ी संख्या में लोगों ने स्थान परिवर्तन करना आरम्भ किया, यद्यपि इनमें से अधिकांश लोगों की आर्थिक तथा

सामाजिक प्रस्थिति पहले के ही समान बनी रही

13.3 सामाजिक गतिषीलता के प्रकार (Types of Social Mobility)

विभिन्न दशाओं में सामाजिक गतिषीलता की प्रकृति एक जैसी नहीं होती। **सोरोकिन** ने सामाजिक गतिषीलता की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए इसके दो मुख्य प्रकारों का उल्लेख किया है। इन्हें हम समतल गतिषीलता तथा उदग्र गतिषीलता कहते हैं। सामाजिक गतिषीलता के इन दोनों स्वरूपों की प्रकृति को निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है–

13.4 समतल अथवा क्षैतिज गतिषीलता (Horizontal Mobility)

सोरोकिन ने समतल गतिषीलता की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए लिखा है, ''समतल सामाजिक गतिषीलता का तात्पर्य किसी व्यक्ति अथवा सामाजिक तथ्य का समान स्थिति वाले एक से दूसरे समूह में स्थानान्तरण होना है।'' इस कथन से स्पष्ट होता है कि समतल अथवा क्षैतिज गतिषीलता वह दशा है। जिसमें विभिन्न व्यक्ति अपने व्यवसाय, काम के स्थान अथवा एक विशेष समूह की सदस्यता को छोड़कर उसी के समान स्थिति वाले किसी दूसरे व्यवसाय, स्थान अथवा समूह से सम्बन्धित हो जाते हैं लेकिन इससे उनकी सामाजिक अथवा आर्थिक प्रस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता । उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति एक कार्यालय को छोड़कर समान वेतन अथवा पद पर किसी दूसरे कार्यालय में काम करने लगे, कोई स्त्री तलाक के द्वारा एक परिवार को छोड़कर किसी दूसरे परिवार की सदस्य बन जाए अथवा एक राजनीतिक दल से सम्बन्धित कोई व्यक्ति किसी दूसरे राजनीतिक दल की सदस्यता ले ले तो इससे व्यक्ति की परिस्थितियों में परिवर्तन अवश्य होता है लेकिन उसके अधिकारों, आर्थिक सुविधाओं या सामाजिक सम्मान में कोई परिवर्तन नहीं होता। इस प्रकार समतल गतिषीलता वह है जिसमें व्यक्ति की वर्ग सम्बन्धी सदस्यता बदल जाने के बाद भी उसकी प्रस्थिति पहले जैसी ही बनी रहती है। इस तरह की गतिषीलता बन्द तथा खुले हुए दोनों तरह के समाजों में देखने को मिलती है।

फिचर ने लिखा है, ''समतल सामाजिक गतिषीलता का अर्थ एक विशेष सामाजिक स्तर से उसी के समान प्रस्थिति वाले दूसरे सामाजिक स्तर में गमन करना (transition) है।'' **वर्टेण्ड** के अनुसार, 'समतल गतिषीलता वह दशा है जिसमें व्यक्ति एक सामाजिक पद से दूसरे सामाजिक पद या स्थान पर इस तरह गमन करता है जिससे उसके प्रस्थिति – समूह में कोई परिवर्तन नहीं

होता। ''यह दोनों कथन भी **सोरोकिन** के समान ही समतल गतिषीलता की प्रकृ ति को स्पष्ट करते हैं। **सोरोकिन** ने समतल गतिषीलता की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए स्थान परिवर्तन, व्यावसायिक परिवर्तन परिवार, नागरिकता, धर्म तथा राजनीति से सम्बन्धित परिवर्तनों का उल्लेख किया है।

भू–भागीय गतिषीलता (Territorial Mobility) – कुछ समय पहले तक अधिकांश व्यक्ति उसी गाँव या नगर में जीवन व्यतीत करते थे जहाँ उनका जन्म होता था । वर्तमान युग में नगरीकरण के फलस्वरूप एक बड़ी संख्या में लोग अपने पैतृक निवास स्थान को छोड़कर एक गाँव से दूसरे गाँव, गाँव से नगर तथा एक नगर से दूसरे नगर की ओर स्थान परिवर्तन करने लगे हैं। विभिन्न दशों के बीच भी आप्रवास तथा उत्प्रवास (Immigration and emigration) में वृद्धि हुई है। भू–भागीय गतिषीलता से व्यक्ति की प्रस्थिति में सदैव कोई परिवर्तन होना आवष्यक नहीं होता। इसी कारण इसे समतल गतिषीलता का एक विशेष रूप माना जाता है।

व्यावसायिक गतिषीलता (Occupational Mobility) – ऐसी गतिषीलता उन लोगों में देखने को मिलती है जो किसी एक कारखाने या कार्यालय की नौकरी को छोड़कर समान प्रस्थिति वाले किसी दूसरे कारखाने या कार्यालय में काम करने लगते हैं । औद्योगीकरण के फलस्वरूप नए व्यवसाय बढ़ने से भी लोगों में एक व्यवसाय को छोड़कर दूसरे व्यवसाय के द्वारा आजीविका उपार्जित करने की प्रवृत्ति बढ़ी है। इससे अधिकांश लोगों की सामाजिक प्रस्थिति पहले जैसी ही बनी रहती है।

पारिवारिक गतिषीलता (Family Mobility) – परिवार की सदस्यता में परिवर्तन होना इस दशा का उदाहरण है। बहुत से स्त्री–पुरुष जब विवाह विच्छेद करके पुनर्विवाह करते हैं तो उनके परिवार में परिवर्तन हो जाता है, यद्यपि इससे पति–पत्नी की सामाजिक या आर्थिक स्थिति में कोई स्पष्ट परिवर्तन नहीं होता।

नागरिकता से उत्पन्न गतिषीलता (Mobility Due to Shift of Citizenship)– भूमण्डलीकरण के वर्तमान युग में एक बड़ी संख्या में लोग अपने देश की नागरिकता को छोड़कर व्यवसाय के नए अवसर पाने के लिए किसी दूसरे देश की नागरिकता ग्रहण कर लेते हैं। किसी राष्ट्र की सीमाएँ बदलने से भी इस तरह की जिसमें विभिन्न व्यक्ति अपने व्यवसाय, काम के स्थान अथवा एक विशेष समूह की सदस्यता को छोड़कर उसी के समान स्थिति वाले किसी दूसरे व्यवसाय, स्थान अथवा समूह से सम्बन्धित हो जाते हैं लेकिन इससे उनकी सामाजिक अथवा आर्थिक प्रस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता । उदाहरण के

लिए, यदि कोई व्यक्ति एक कार्यालय को छोड़कर समान वेतन अथवा पद पर किसी दूसरे कार्यालय में काम करने लगे, कोई स्त्री तलाक के द्वारा एक परिवार को छोड़कर किसी दूसरे परिवार की सदस्य बन जाए अथवा एक राजनीतिक दल से सम्बन्धित कोई व्यक्ति किसी दूसरे राजनीतिक दल की सदस्यता ले ले तो इससे व्यक्ति की परिस्थितियों में परिवर्तन अवश्य होता है लेकिन उसके अधिकारों, आर्थिक सुविधाओं या सामाजिक सम्मान में कोई परिवर्तन नहीं होता। इस प्रकार समतल गतिषीलता वह है जिसमें व्यक्ति की वर्ग सम्बन्धी सदस्यता बदल जाने के बाद भी उसकी प्रस्थिति पहले जैसी ही बनी रहती है। इस तरह की गतिषीलता बन्द तथा खुले हुए दोनों तरह के समाजों में देखने को मिलती है।

धार्मिक गतिषीलता (Religious Mobility) – समतल गतिषीलता का एक अन्य रूप एक धर्म को छोड़कर दूसरे धर्म को ग्रहण करने की प्रवृत्ति के रूप में देखने को मिलता है। भारत की अधिकांश जनजातियों में अपने परम्परागत धार्मिक विश्वासों को छोड़कर हिन्दू या ईसाई धर्म को अपनाने की प्रवृत्ति इसका उदाहरण है। अनेक दशाओं में व्यक्ति किसी भी उस धर्म को स्वीकार करने को तैयार हो जाता है जो उसकी रुचियों और मनोवृत्तियों के अनुकूल होता है। एक धर्म से सम्बन्धित विभिन्न पंथों और सम्प्रदायों के बीच होने वाला परिवर्तन भी समतल गतिषीलता का उदाहरण है।

राजनीतिक दलों की गतिषीलता (Mobility of Political Parties) हमारे समाज में एक राजनीतिक दल से दूसरे राजनीतिक दल की सदस्यता ग्रहण करने, विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा अपने घोषित कार्यक्रमों को बदलते रहने से भी राजनीतिक संरचना में परिवर्तन के तत्व स्पष्ट होने लगते हैं। लोकतांत्रिक व्यवस्था में यह समतल गतिषीलता से सम्बन्धित एक प्रमुख दशा है।

सामाजिक मूल्यों तथा सेवाओं में परिवर्तन (Change in Social Values and Service) – वर्तमान युग में सामाजिक मूल्यों तथा विभिन्न प्रकार की सेवाओं की प्रकृति में इतनी तेजी से परिवर्तन हो रहा है कि परम्परागत समाज आधुनिक समाजों के रूप में बदलने लगे हैं। यह सामाजिक परिवर्तन का एक विशेष प्रकार है, यद्यपि इस दशा में अधिकांश लोगों की सामाजिक प्रस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता।

13.4 उदग्र अथवा शीर्ष गतिषीलता (Vertical Mobility)

सामाजिक गतिषीलता के दूसरे प्रमुख स्वरूप को हम उदग्र अथवा शीर्ष

गतिषीलता कहते हैं। **सोरोकिन** के अनुसार, ''उदग्र सामाजिक गतिषीलता का अर्थ किसी व्यक्ति अथवा सामाजिक तथ्य द्वारा एक स्थिति–समूह से दूसरे स्थिति–समूह में संक्रमण होना है।

इस प्रकार उदग्र गतिषीलता का रूप समतल गतिषीलता से बिल्कुल भिन्न है। समतल गतिषीलता के पिछले विवेचन से यह स्पष्ट हो चुका है कि इसके अन्तर्गत गतिषीलता के बाद भी व्यक्ति की सामाजिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता, केवल स्थान अथवा सम्बन्ध बदल जाते हैं। इसके विपरीत, जैसा कि उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट होता है, गतिषीलता को हम तभी 'उदग्र' कहते हैं जबकि इसके फलस्वरूप व्यक्ति की सामाजिक स्थिति भी बदल जाये। इसी आधार पर **इलिएट और मैरिल** उदग्र गतिषीलता को वर्गीय संरचना में ऊपर और नीचे की ओर होने वाला परिवर्तन कहा है। उदग्र गतिषीलता की दिशा (direction) के दृष्टिकोण से इसे दो भागों में विभाजित करके स्पष्ट किया जा सकता है–

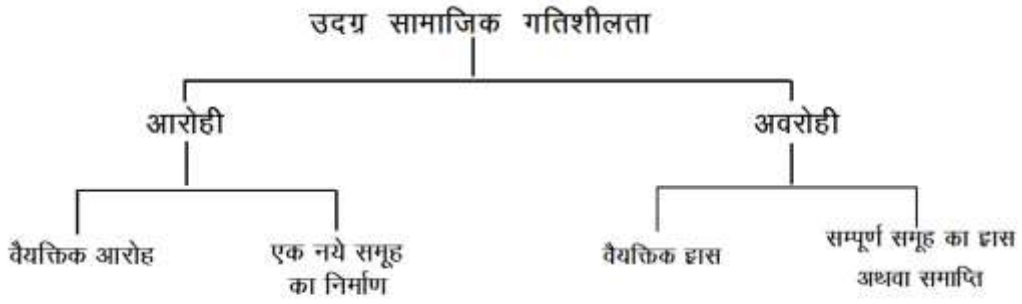

समाज में पाये जाने वाले स्तरीकरण की प्रकृति के आधार पर आर्थिक, राजनीतिक और व्यावसायिक गतिषीलता या तो ऊपर की ओर होती है अथवा नीचे की ओर । प्रथम स्थिति को हम आरोही गतिषीलता (ascending mobility) कहते हैं और दूसरी को अवरोही गतिषीलता (descending mobility) आरोही उदग्र गतिषीलता भी प्रमुख रूप से दो प्रकार की होती है – प्रथम तो वह जिसमें उच्च स्थिति वाले समूह की स्थिति में बिना कोई ह्रास हुए, व्यक्ति स्वयं अपने कुछ दोशों के कारण निम्न स्थिति वाले किसी दूसरे समूह में जाने को विवश हो जाता है। दूसरी वह है जिसमें सम्पूर्ण समूह का पतन हो जाता है और उस समूह का सदस्य होने के नाते व्यक्ति की स्थिति पहले की तुलना में निम्न हो जाती है। पहली स्थिति की तुलना ऐसे व्यक्ति से की जा सकती है जो जहाज से समुद्र में गिर गया हो और दूसरी स्थिति स्वयं जहाज के डूबने से उत्पन्न स्थिति को स्पष्ट करती है।

वैयक्तिक कमियों के कारण किसी व्यक्ति का निम्न स्थिति में चले जाना अथवा वैयक्तिक क्षमताओं के कारण उच्च स्थिति प्राप्त कर लेना अपेक्षाकृत रूप से एक साधारण बात है जो हमें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दिखाई देती है, लेकिन अपने समूह की स्थिति को ही उच्च बना देना अथवा सम्पूर्ण समूह की स्थिति में ह्रास हो जाना एक महत्वपूर्ण विषय है जिसके बारे में सभी समाज सतर्क रहते हैं । इसके उपरान्त भी प्रत्येक समाज में किसी–न–किसी समय पर दोनों स्थितियाँ विद्यमान रहती हैं। इन दोनों परिस्थितियों को हम भारत के उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं।

भारत में जाति–व्यवस्था के इतिहास से पता चलता है कि पिछले ढाई हजार वर्षों में ब्राह्मणों की स्थिति सदैव सर्वोच्च नहीं रही। आरम्भ में ब्राह्मणों की स्थिति जन्म की धारणा के कारण सर्वोच्च थी लेकिन क्षत्रिय अपने कार्य को अधिक महत्वपूर्ण मानने के कारण अपनी स्थिति को बराबर ऊँचा उठाने के लिए प्रयत्नशील रहे। बाद में जब जैन और बौद्ध धर्मों का प्रभाव बढ़ा तो व्यक्ति की सामाजिक स्थिति उसके जन्म से नहीं बल्कि 'कर्म' से निर्धारित होने लगी। इसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण क्षत्रिय समूह की स्थिति उच्च हुई (आरोही उदग्र गतिषीलता) और संपूर्ण ब्राह्मण समूह की स्थिति में ह्रास हुआ (अवरोही उदग्र गतिषीलता)। इसके पश्चात् ब्राह्मणों ने अनेक संघर्षों के बाद और अनेक नयी सामाजिक नीतियों का निर्माण करके अपनी स्थिति को पुनः सुदृढ़ बना लिया जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण क्षत्रिय समूह की स्थिति में पुनः ह्रास हुआ। इस उदाहरण से स्पष्ट होता है कि सम्पूर्ण समूह के आरोह अथवा अवरोह से उत्पन्न होने वाली सामाजिक गतिषीलता की प्रकृति उदग्र होती है ।

13.5 उदग्र गतिषीलता के स्रोत (Sources of Vertical Mobility)

सोरोकिन ने अनेक ऐसे स्रोतों का उल्लेख किया जिनके प्रभाव से विभिन्न समूहों की प्रस्थिति में ऊपर या नीचे की ओर परिवर्तन होने लगता है। इनमें निम्नांकित स्रोत अधिक महत्वपूर्ण हैं–

सेना (Army) – युद्ध के समय प्रत्येक वीर जवान और अधिकारी को एक उच्च प्रस्थिति मिल जाती है चाहे उसका जन्म कितने भी निम्न स्तर के समूह में क्यों न हुआ हो । युद्ध के समय एक बड़ी संख्या में सैनिकों की मृत्यु होने के कारण भी निम्न स्तर वाले सैनिकों को पहले से ऊँचा पद मिल जाता है।

धार्मिक संगठन (Religious Organization) – धर्म प्रधान समाजों में उन लोगों की स्थिति पहले से उच्च हो जाती है जो धार्मिक नियमों का पालन करने के प्रति

अधिक जागरूक होते हैं (आरोही उदग्र गतिषीलता) । दूसरी ओर अनैतिक, पापी और धार्मिक नियमों के विरुद्ध आचरण करने वाले लोगों को कोई सम्मान न मिलने से उनकी सामाजिक प्रस्थिति पहले से निम्न हो जाती है (अवरोही उदग्र गतिषीलता) :

शिक्षण संस्थाएँ (Educational Institution) – प्रत्येक युग में शिक्षा उदग्र गतिषीलता का एक प्रमुख स्रोत रही है। व्यक्ति की जाति, प्रजाति अथवा वंश की स्थिति चाहे जैसी भी हो, जो व्यक्ति शिक्षा के द्वारा अपनी योग्यता और प्रतिभा का परिचय देते हैं, उन्हें विशेष आर्थिक सुविधाएँ मिलने के साथ ही उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी बढ़ जाती है।

राजनीतिक दल (Political Parties) – लोकतांत्रिक व्यवस्था में विभिन्न राजनीतिक दलों की शक्ति होने वाला परिवर्तन भी आरोही और अवरोही उदग्र गतिषीलता का एक प्रमुख स्रोत है । जब अपनी लोकप्रियता के कारण पहले का विरोधी राजनीतिक दल सत्ता में आ जाता है तो उसके सदस्यों की प्रस्थिति भी ऊँची हो जाती है। दूसरी ओर सत्तारूढ़ दल द्वारा चुनाव में हार जाने से उच्च पदों पर आसीन बहुत–से व्यक्तियों को अपने पद से हटना पड़ता है। स्पष्ट है कि राजनीतिक दल उदग्र गतिषीलता के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

व्यावसायिक संगठन (Professional Organizations) – विभिन्न व्यावसायिक, वैज्ञानिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक संगठनों की भी उदग्र गतिषीलता में एक महत्वपूर्ण भूमिका देखने को मिलती है। ऐसे संगठन लोगों की वैज्ञानिक, साहित्यिक, कलात्मक और तकनीकी प्रतिभा के आधार पर उन्हें सम्मानित करते हैं । उन लोगों को समाज में कोई महत्व नहीं दिया जाता जो परम्परागत रूप से उच्च प्रस्थितियों से सम्बन्धित होने के बाद भी समाज के लिए कोई उपयोगी कार्य नहीं करते । वर्तमान युग में मीडिया भी एक ऐसा साधन है जिसने विभिन्न क्षेत्रों में लोगों की प्रतिभा को जनसाधारण के सामने लाकर उनकी प्रस्थिति को ऊँचा उठाने में योगदान किया है।

आर्थिक संगठन (Economic Organizations) – वर्तमान युग में सम्पत्ति का संचय उद्यमिता, प्रबन्ध की योग्यता तथा वित्तीय विशेषीकरण वे विशेषताएँ हैं जिनके आधार पर बड़े–बड़े आर्थिक संगठनों द्वारा कुछ लोगों को ऊँचे पदों पर नियुक्त करके उन्हें भारी आर्थिक पुरस्कार दिए जाते हैं। ऐसे लोग चाहे किसी भी धर्म, जाति अथवा परिवार से सम्बन्धित हों, आर्थिक सुदृढ़ता से उनकी प्रस्थिति बहुत ऊँची हो जाती है।

भूमण्डलीकरण (Globalization) – उदग्र गतिषीलता के एक स्रोत के रूप में

भूमण्डलीकरण का उल्लेख **सोरोकिन** द्वारा नहीं किया गया। इसके बाद भी यह सच है कि आज अधिक प्रतिभावान लोगों को संसार के विभिन्न देशों में अपनी प्रतिभा का परिचय देकर आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्र में अपनी प्रस्थिति को ऊँचा उठाने के अवसर प्राप्त हुए हैं।

उपर्युक्त स्रोतों के अतिरिक्त अनेक दूसरी दषाएँ भी उदग्र गतिषीलता में वृद्धि करने का आधार हैं। उदाहरण के लिए यदि एक सामान्य परिवार की महिला का विवाह किसी उच्च स्तर के पुरुष से हो जाए तो इससे उसकी प्रस्थिति अपने आप पहले से कहीं अधिक उच्च हो जाती है। एक सामान्य नियम के रूप में समाज में उदग्र गतिषीलता का प्रभाव तब अधिक होता है जब उसकी सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक संरचना में परिवर्तन हो रहा होता है।

13.6 अन्तः पीढ़ी तथा अन्तर–पीढ़ी गतिषीलता (Intra and Inter&Generational Mobility)

वर्तमान युग में सामाजिक गतिषीलता का एक अन्य वर्गीकरण अन्तः पीढ़ी तथा अन्तर– 1 – पीढ़ी गतिषीलता के रूप में किया जाता है। समाजशास्त्रियों का विचार है जब किसी समाज की सामाजिक तथा आर्थिक संरचना में परिवर्तन हो रहा होता है तो विभिन्न पीढ़ियों को प्राप्त होने वाले जीवन–अवसरों में भी भिन्नता स्पष्ट होने लगती है। ऐसी भिन्नता की प्रकृति समतल गतिषीलता के रूप में भी हो सकती है लेकिन साधारणतया परिवर्तन की दशा में उदग्र गतिषीलता की सम्भावना अधिक हो जाती है। अन्तः पीढ़ी तथा अन्तर–पीढ़ी गतिषीलता की प्रकृति को समझने के लिए 'पीढ़ी' शब्द के अर्थ को ध्यान में रखना आवष्यक है । साधारणतया पीढ़ी का सम्बन्ध एक विशेष आयु समूह के स्त्री–पुरुषों से माना जाता है। इसी आधार पर हम पुरानी पीढ़ी, नई पीढ़ी, वृद्ध पीढ़ी तथा युवा पीढ़ी जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं। आयु के आधार पर विभिन्न पीढ़ियों के अन्तर की अवधि 25 वर्ष की मानी जाती है। इस प्रकार समाज और परिवार में युवा, प्रौढ़ तथा वृद्ध पीढ़ी के लोग साथ–साथ रहते हैं। इनमें से सभी पीढ़ियों की उपलब्धियाँ समान प्रकृति की नहीं होती। इसी आधार पर सामाजिक गतिषीलता को अक्सर अन्तः पीढ़ी तथा अन्तर–पीढ़ी गतिषीलता जैसे दो भागों में विभाजित करके स्पष्ट किया जाता है।

अन्तः पीढ़ी गतिषीलता (Intra Generational Mobility) – अन्तः पीढ़ी का तात्पर्य उन व्यक्तियों से होता है जो अपने जीवनकाल में ही विभिन्न प्रकार के

परिवर्तनों से गुजरते हैं। उदाहरण के लिए यदि एक व्यक्ति वयस्क होने पर सामान्य व्यवसाय आरम्भ करके धीरे–धीरे उद्योगपति बन जाए अथवा कार्यालय में एक सामान्य कर्मचारी के रूप में जीवन आरम्भ करके एक बड़े प्रबन्धक की प्रस्थिति प्राप्त कर ले तब इसे अन्तःपीढ़ी गतिषीलता कहा जाएगा। उदाहरण के लिए भारत में महाशय जी ने एक तांगा चलाने वाले से जीवन आरम्भ करके 'महाशय दी हट्टी' नाम से एक ढाबा शुरू किया तथा इसी के नाम पर आज एम. डी. एच. मसालों के, व्यापार द्वारा हजारों करोड़ रुपये वाले एक बड़े उद्योगपति की प्रस्थिति प्राप्त कर ली। इसी तरह धीरूभाई अम्बानी ने कार्यालय के क्लर्क से जीवन आरम्भ करके रिलायंस जैसे बड़े औद्योगिक समूह की स्थापना की । नरेन्द्र मोदी ने एक चाय बेचने वाले व्यक्ति से भारत के प्रधानमंत्री जैसे उच्च पद को प्राप्त कर लिया। ऐसी गतिषीलता एक ही व्यक्ति के जीवनकाल में होने वाले आरोही परिवर्तन का उदाहरण है । अन्तः पीढ़ी गतिषीलता अवरोही तब होती है जब युवावस्था की सम्पन्नता और ऊँची प्रस्थिति के बाद धीरे–धीरे या अचानक व्यक्ति की स्थिति निम्न बन जाती है। भारत में जमींदारी प्रथा का उन्मूलन होने से लाखों जमींदारों की प्रस्थिति बहुत निम्न हो गयी । यह अवरोही गतिषीलता का उदाहरण है।

अन्तर–पीढ़ी गतिषीलता (Inter&Generational Mobility) – यह वह दशा है जो विभिन्न पीढ़ियों के बीच एक तुलनात्मक दशा को स्पष्ट करती है। इसका तात्पर्य है कि जब किसी परिवार में युवा पीढ़ा की प्रस्थिति में अपने पिता या दादा की तुलना में कोई परिवर्तन होता है अथवा सम्पूर्ण समाज में युवा, प्रौढ़ तथा वृद्ध पीढ़ी की प्रस्थिति में परिवर्तन स्पष्ट होने लगता है तो इसे हम अन्तर – पीढ़ी गतिषीलता कहते हैं। इस तरह की गतिषीलता का सम्बन्ध एक विशेष राजनीतिक व्यवस्था, आर्थिक अवसरों तथा समाज के मूल्यों में होने वाले परिवर्तन से है। देश के वर्तमान संसाधनों में वृद्धि, शिक्षा का प्रसार तथा सरकार की नीतियों में परिवर्तन होने से वर्तमान पीढ़ी की उपलब्धियाँ पुरानी पीढ़ी की लोगों की तुलना में कहीं अधिक हैं। इसी तरह निम्न जातियों की युवा पीढ़ी ने नए वैधानिक और आर्थिक अधिकार प्राप्त करके वे सफलताएँ प्राप्त कर लीं जो जातिगत निर्योग्यताओं के कारण उनके दादा या उनसे पहले की पीढ़ियाँ प्राप्त नहीं कर सकी थीं। इससे स्पष्ट होता है कि अन्तर–पीढ़ी गतिषीलता एक ऐसी दशा है जिसके आधार पर सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति तथा उसके बदलते हुए आधारों को समझा जा सकता है।

13.7 सामाजिक गतिषीलता में वृद्धि के कारक (Factors Conducive of Social Mobility)

उदग्र गतिषीलता के स्रोत सामाजिक गतिषीलता से भी सम्बन्धित हैं, लेकिन यह स्रोत केवल सम्भावित कारण है जो विभिन्न समाजों में एक–दूसरे से भिन्न रूप में गतिषीलता की दशा को स्पष्ट करते हैं। **सोरोकिन** ने सामाजिक गतिषीलता के उन सामान्य कारकों की भी विवेचना की जो सभी समाजों पर लागू होते हैं। इनकी प्रकृति को निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है–

जनसंख्यात्मक कारक (Demographic Factor) – जनसंख्यात्मक कारकों का सम्बन्ध विभिन्न प्रस्थिति वाले समूहों में असमान जन्म–दर तथा उच्च वर्गों में अधिक मृत्यु दर से है। समाज में अनेक दशाओं के फलस्वरूप ऐसी परिस्थितियाँ तब उत्पन्न होती रहती हैं जब जनसंख्या की कुल वृद्धि के अनुपात में कुलीन अथवा सम्भ्रान्त परिवारों की संख्या कम रह जाती है। इससे उच्च स्थिति वाले समूहों में सामाजिक रिक्तता की दशा उत्पन्न होती है। दूसरी ओर निम्न स्थिति वाले समूहों की तुलना में उच्च स्थिति वाले समूहों में अधिक योग्य व्यक्तियों की संख्या बढ़ने से उनके द्वारा इन रिक्त स्थानों की पूर्ति होने लगती है। यह दशा सामाजिक गतिषीलता में वृद्धि करती है। दूसरा तथ्य यह है कि निम्न स्थिति वाले समूहों की तुलना में उच्च स्थिति वाले समूहों में जन्म दर साधारणतया कम होती है । उदाहरण के लिए, शारीरिक श्रम करने वाले और अशिक्षित व्यक्तियों की तुलना में बौद्धिक कार्य करने वाले तथा उच्च वेतन पाने वाले लोगों में जन्म दर कम होती है । विभिन्न क्रान्तियों तथा हिंसात्मक आन्दोलनों के दौरान भी उच्च वर्ग के व्यक्तियों में मृत्यु का अनुपात अधिक होता है। यह सभी दषाएँ सामाजिक गतिषीलता में वृद्धि करती हैं।

माता–पिता तथा उनकी संतानों में भिन्नता (Dissimilarity of Parents and Their Children)– व्यावहारिक जीवन में ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं जहाँ माता–पिता के अत्यधिक योग्य होने पर भी उनकी संतानें बहुत सामान्य बुद्धि वाली होती हैं तथा सामान्य बुद्धि के माता–मेधावी बच्चों को जन्म देते हैं। माता–पिता और बच्चों की योग्यता में भिन्नता होने पर परिणाम यह होता है कि ऐसे बच्चों की सामाजिक प्रस्थिति अक्सर अपने माता–पिता से भिन्न हो जाती हैं। यदि मेधावी माता–पिता के बच्चे कम योग्य होते हैं तो उनका स्थान उन व्यक्तियों के द्वारा ले लिया जाता है जो निम्न स्थिति वाले परिवारों से सम्बन्धित होने के बाद भी अधिक प्रतिभावान होते हैं ।

पर्यावरण सम्बन्धी कारण (Environmental Factor) – सामाजिक पर्यावरण में

परिवर्तन होने से भी सामाजिक गतिषीलता में वृद्धि होती है । उदाहरण के लिए आदिम समाजों में उन लोगों को उच्च प्रस्थिति प्राप्त होती थी जो शारीरिक रूप से अधिक शक्तिशाली होते थे। आज इन समाजों का सामाजिक और सांस्कृतिक पर्यावरण बदल जाने से उन्हीं लोगों को समाज में उच्च प्रस्थिति प्राप्त होने लगी जिन्होंने अपनी शिक्षा तथा राजनैतिक जागरूकता के द्वारा अपनी स्थिति में सुधार कर लिया। इसी तरह परम्परागत अर्थव्यवस्था वाले समाज में कुशल कारीगरों और हस्तकला में पारंगत लोगों की स्थिति काफी ऊँची थी, लेकिन मशीनों द्वारा उत्पादन होने से जब आर्थिक पर्यावरण बदल गया तो ऐसे कारीगरों की प्रस्थिति निम्न हो गई। मध्यकाल में धार्मिक क्रियाएँ करने वाले पुरोहितों की प्रस्थिति बहुत ऊँची थी, लेकिन आधुनिक समाजों में धार्मिक मान्यताएँ बदल जाने से उनके सामने –पोषण का भी संकट पैदा हो गया। इसका तात्पर्य है कि सामाजिक पर्यावरण बदल जाने से परम्परागत समूहों की शक्ति में कमी तथा नए समूहों की शक्ति में वृद्धि होना एक आवष्यक दशा है।

विभिन्न प्रस्थितियों पर व्यक्तियों का दोषपूर्ण वितरण (Defective Distribution of Individulas on Various Statuses) – **सोरोकिन** के अनुसार अधिकांश समाजों में यह देखने को मिलता है कि उच्च स्थितियों का वितरण व्यक्तियों की योग्यता के अनुसार नहीं हो पाता । साधारणतया जिन व्यक्तियों अथवा समूहों को एक बार उच्च स्थिति प्राप्त हो जाती है, वे निम्न स्थितियों के लोगों को उच्च स्थितियों पर आने से रोकने का प्रयत्न करते रहते हैं। जब बदलती हुई दशाओं के बीच उच्च प्रस्थितियों पर अयोग्य लोग आसीन रहते हैं तो समाज का सन्तुलन बिगड़ने लगता है। इसका अर्थ है कि समाज की विभिन्न प्रस्थितियों पर व्यक्तियों के दोषपूर्ण वितरण से भी सामाजिक गतिषीलता में वृद्धि होती है ।

औद्योगीकरण तथा नगरीकरण (Industrialization and Urbanization) औद्योगीकरण के फलस्वरूप व्यवसाय के नए अवसरों में वृद्धि होने तथा स्थान– परिवर्तन की प्रवृत्ति बढ़ने से सामाजिक गतिषीलता में वृद्धि होती है। नगरीकरण के फलस्वरूप जब लोगों की मनोवृत्तियों और व्यवहार के तरीकों में परिवर्तन होने लगता है तब वंश और जाति की अपेक्षा व्यक्तिगत योग्यता और कुशलता को अधिक महत्व दिया जाने लगता है। यह दषाएँ भी सामाजिक गतिषीलता को बढ़ाती हैं।

शिक्षा तथा संचार में वृद्धि (Rise in Education and Communication) – सामाजिक गतिषीलता में वृद्धि के लिए शिक्षा का बढ़ता हुआ स्तर एक महत्वपूर्ण दशा है। इसी तरह संचार के साधन विभिन्न समूहों को एक–दूसरे के निकट लाकर तथा सामाजिक स्तरीकरण में परिवर्तन पैदा करके परम्पराओं के प्रभाव को कम करते

हैं। यह एक सामान्य नियम है कि किसी समाज में जैसे–जैसे परम्पराओं का प्रभाव कम होता है, सामाजिक गतिषीलता में वृद्धि होने लगती है।

वैयक्तिक महत्वाकांक्षाएँ (Personal Ambitions)–वर्तमान परिवर्तनशील समाजों में व्यक्तियों की परम्परागत सामाजिक तथा आर्थिक प्रस्थिति चाहे जैसी भी हो, प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न क्षेत्रों में अधिक–से–अधिक सफलता प्राप्त करके एक उच्च प्रस्थिति को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है । इसके फलस्वरूप निम्न प्रस्थिति समूह वाले बहुत से व्यक्ति उच्च प्रस्थिति प्राप्त कर लेते हैं जबकि उच्च स्थिति के बहुत–से व्यक्ति अपनी कुशलता को बनाए रखने में असफल हो जाने के कारण निम्न स्थिति में आने लगते हैं। इससे समतल तथा उदग्र दोनों तरह की गतिषीलता में वृद्धि होती है । सोरोकिन का कथन है कि यह सभी कारक वे हैं जो बदलती हुई दशाओं के बीच आज सभी समाजों में देखने को मिलते हैं। यही कारण है कि सामाजिक गतिषीलता को वर्तमान समाजों को एक अनिवार्य विशेषता के रूप में देखा जाता है ।

13.8 सामाजिक गतिषीलता के सिद्धान्त (Theories of Social Mobility)

सामाजिक गतिषीलता की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए जहाँ कुछ लेखकों ने इसकी सामान्य विशेषताओं एवं नियमों को स्पष्ट किया है, वहीं दूसरी ओर कुछ विद्वानों ने सामाजिक गतिषीलता को सामाजिक प्रस्थिति, वर्ग संरचना तथा विकास की वर्तमान प्रक्रियाओं के सन्दर्भ में स्पष्ट करके इससे सम्बन्धित कुछ मुख्य प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला है। ऐसे विद्वानों में सोरोकिन, मैक्स वेबर, एस. जे. प्राइस, पियरे बोरड्यू तथा लर्नर के नाम प्रमुख हैं। सामाजिक गतिषीलता के बारे में इनमें से कुछ विचारों को संक्षेप में निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है–

सोरोकिन का सिद्धान्त (Theory of Pitrim Sorokin)

सोरोकिन ने सामाजिक गतिषीलता के सिद्धान्त को इसकी कुछ प्रमुख विशेषताओं एवं प्रवृत्तियों के आधार पर स्पष्ट किया। उनके अनुसार सामाजिक गतिषीलता परिवर्तन का एक विशेष रूप है तथा प्रत्येक समाज में सामाजिक गतिषीलता का एक विशेष प्रकार अवश्य विद्यमान होता है।

सामाजिक गतिषीलता की प्रकृति भू–भागीय गतिषीलता (Territorial Mobility) से भिन्न है। भू–भागीय गतिषीलता का सम्बन्ध व्यक्तियों द्वारा किये जाने वाले स्थान परिवर्तन से है जबकि सामाजिक गतिषीलता का सम्बन्ध एक ऐसी दशा से है जिसमें विभिन्न व्यक्तियों अथवा समूहों की परम्परागत प्रस्थिति में नीचे

अथवा ऊपर की ओर परिवर्तन हो जाता है।

सामाजिक गतिषीलता के दो रूप मुख्य हैं जिन्हें समतल (horizontal) तथा उदग्र (vertical) गतिषीलता कहा जा सकता है। समतल गतिषीलता वह है जिसमें व्यक्ति द्वारा एक विशेष स्थान, व्यवसाय अथवा व्यवहार के तरीकों में परिवर्तन करने के बाद भी उसकी सामाजिक प्रस्थिति लगभग पहले जैसे ही बनी रहती है । उदग्र गतिषीलता वह है जिसमें व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति पहले की तुलना में उच्च अथवा निम्न हो जाती है। किसी देश में जैसे–जैसे औद्योगीकरण, नगरीकरण तथा सांस्कृतिक मूल्यों में परिवर्तन होता है, वहाँ उदग्र गतिषीलता में भी वृद्धि होने लगती है।

व्यक्तियों की सामाजिक प्रस्थिति में होने वाला परिवर्तन पूरी तरह स्वतंत्र नहीं होता । साधारणतया उच्च प्रस्थितियों वाले व्यक्ति उन लोगों को अपने स्तर में आने से रोकते हैं जिनकी प्रस्थिति उनसे निम्न होती है।

किसी समाज में सामाजिक गतिषीलता की गहनता कितनी अधिक होगी, यह इस बात पर निर्भर करता है कि एक विशेष समाज में सामाजिक संरचना की प्रकृति किस तरह की है। जिन समाजों में जाति, वंश, प्रजाति, व्यवसाय, अथवा आयु और लिंग के आधार पर स्तरीकरण की एक बन्द व्यवस्था देखने को मिलती है, उनमें वर्ग–व्यवस्था पर आधारित खुले स्तरीकरण वाले समाज की तुलना में सामाजिक गतिषीलता की तीव्रता कम होती है।

किसी समाज में जब परिवर्तन की गति बहुत तेज हो जाती है अथवा समाज क्रान्ति के दौर से गुजर रहा होता है, तब सामाजिक गतिषीलता की गहनता बहुत अधिक बढ़ जाती है। इसके बाद भी इस गहनता का स्थायी रहना आवष्यक नहीं होता। यह इस बात पर निर्भर होता है कि परिवर्तन के दौरान सामाजिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों में होने वाले परिवर्तन को किस सीमा तक मान्यता दी जाती है।

विभिन्न समाजों में सामाजिक गतिषीलता में होने वाली वृद्धि अथवा कमी के बारे में कोई निश्चित प्रवृत्ति स्पष्ट नहीं की जा सकती है। वर्तमान युग में नियोजन तथा नये कानूनों के द्वारा भी सामाजिक संरचना में ऐसे परिवर्तन पैदा होने लगते हैं जिनके कारण सामाजिक गतिषीलता पर एक विशेष तरह से नियन्त्रण रखा जाने लगता है अथवा सामाजिक गतिषीलता को प्रोत्साहन मिलने लगता है।

वर्तमान युग में शिक्षा, लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था, संचार के साधन

तथा विभिन्न व्यावसायिक संगठन वे प्रमुख स्रोत हैं जो सामाजिक गतिषीलता में वृद्धि करने के लिए उत्तरदायी होते हैं । वैयक्तिक महत्वाकांक्षाएँ भी सामाजिक गतिषीलता में वृद्धि करती हैं।

उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर **सोरोकिन** ने यह निष्कर्ष किया कि किसी समाज में एक विशेश प्रकार की गतिषीलता में वृद्धि होने का तात्पर्य यह नहीं है कि वह समाज निश्चित रूप से प्रगति की ओर आगे बढ़ रहा है। अनेक दशाओं में सामाजिक गतिषीलता की दशा से ऐसे तनावों में भी वृद्धि होने लगती है जो सामाजिक तथा वैयक्तिक विघटन को जन्म देते हैं। इस स्थिति में एक विशेष सामाजिक संरचना के अन्तर्गत सामाजिक गतिषीलता को सामाजिक परिवर्तन के एक विशेष स्वरूप के रूप में देखना ही उचित है।

वेबर का सामाजिक प्रस्थिति का सिद्धान्त (Social Status Theory of Weber)

मैक्स वेबर उन प्रमुख समाजशास्त्रियों में से एक है जिन्होंने सामाजिक गतिषीलता के सिद्धान्त को सामाजिक प्रस्थिति के सन्दर्भ में स्पष्ट किया। उनके अनुसार सामाजिक गतिषीलता का सम्बन्ध किसी समाज में व्यक्तियों तथा समूहों की सामाजिक प्रस्थिति में होने वाले परिवर्तन से है । इसका तात्पर्य है कि गतिषीलता प्रस्थिति में होने वाला एक ऐसा परिवर्तन है जो सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था के अन्तर्गत होता है तथा जिसके फलस्वरूप व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति पहले की तुलना में उच्च अथवा निम्न हो जाती है। अपने सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए वेबर ने पाँच मुख्य बिन्दुओं पर प्रकाश डाला–

सामाजिक गतिषीलता उन समाजों में अधिक होती है जहाँ व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति के निर्धारण में जन्म या वंश की अपेक्षा उसकी उपलब्धियों को अधिक महत्व दिया जाता है। उदाहरण के लिए, वर्तमान समाजों में महिलाओं की सामाजिक–आर्थिक प्रस्थिति में व्यापक सुधार हुआ, परिवारों की औसत आय में वृद्धि हुई, विभिन्न संगठनों से ऋण की सुविधाएँ मिलने के फलस्वरूप व्यक्तियों द्वारा उपभोग की महँगी वस्तुओं का उपयोग बढ़ने लगा तथा एक बड़ी संख्या में व्यक्ति आर्थिक क्षेत्र में आगे बढ़कर अपनी स्थिति में सुधार करने का प्रयत्न करने लगे।

सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति का सामाजिक गतिषीलता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है । सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था ही यह निर्धारित करती है कि विभिन्न लोगों को समाज में किस प्रकार एक विशेष प्रस्थिति प्राप्त होगी। जो व्यक्ति समाज द्वारा मान्यता प्राप्त व्यवहार के तरीकों, जीवन–शैली तथा विशेष

क्षमताओं से अभियोजन कर लेते हैं, उनमें सामाजिक गतिषीलता की गहनता अधिक होती है ।

साधारणतया एक सामाजिक समूह के व्यक्ति उन्हीं लोगों से अधिक सम्बन्ध रखते हैं जिनकी आयु, लिंग, राजनैतिक प्रस्थिति, धर्म तथा सांस्कृतिक मूल्य उन्हीं के समान होते हैं। यह एक ऐसी दशा है जो स्तरीकरण की खुली व्यवस्था वाले समाजों में सामाजिक गतिषीलता में बाधाएँ पैदा करती है। अमेरिका तथा यूरोप जैसे देशों में भी इस तरह की प्रवृत्तियाँ सामाजिक गतिषीलता को रोकती हैं।

सामाजिक गतिषीलता का समाज की वर्ग–संरचना से भी घनिष्ठ सम्बन्ध होता है । साधारणतया सभी समाज उच्च और निम्न स्तर की विभिन्न श्रेणियों अथवा वर्गों में विभाजित होते हैं। इस विभाजन का मुख्य आधार विभिन्न वर्गों के लोगों की आर्थिक स्थिति, जीवन शैली तथा व्यवहार प्रतिमान है।

वेबर के अनुसार वर्तमान समाजों में सम्पत्ति, प्रतिष्ठा तथा शक्ति के आधार पर वर्गों का निर्माण होना एक नयी घटना है । इस दशा में जब व्यक्ति अपनी सम्पत्ति, प्रतिष्ठा तथा शक्ति में वृद्धि करने का प्रयत्न करने लगते हैं तो इसमें सफल होना सदैव आवष्यक नहीं होता। अनेक दशाओं में ऐसे प्रयत्नों से व्यक्ति की आर्थिक प्रस्थिति, प्रतिष्ठा अथवा शक्ति पहले से भी कम हो जाती है। यह दशा भी सामाजिक गतिषीलता को बढ़ाती है। **वेबर** के अनुसार राजनीतिक शक्ति वर्तमान युग की एक ऐसी विशेषता है जिसे प्राप्त करने के प्रयत्न में बहुत से लोगों की सामाजिक प्रस्थिति अनुकूल या प्रतिकूल रूप से प्रभावित होने लगती है।

इस प्रकार **वेबर** ने यह स्पष्ट किया कि सामाजिक गतिषीलता का सम्बन्ध जहाँ एक ओर व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति से है, वहीं सामाजिक संरचना के प्रारूप तथा परिवर्तन के नए प्रतिमान भी इसे प्रभावित करते हैं।

सामाजिक गतिषीलता का औपचारिक सिद्धान्त (Formal Theory of Social Mobility)

सामाजिक गतिषीलता का यह सिद्धान्त एस. जे. प्राइस (S- J- Prais) के विचारों पर आधारित है । हाल ही में इंग्लैण्ड में डी. बी. ग्लास (D- B- Glass) ने सामाजिक गतिषीलता के अध्ययन से सम्बन्धित जो लेख प्रकाशित किए, उन्हीं के आधार पर प्राइस ने सामाजिक गतिषीलता का औपचारिक सिद्धान्त प्रस्तुत किया । यह सिद्धान्त इस तथ्य पर बल देता है कि सामाजिक गतिषीलता का

सम्बन्ध व्यक्ति की सामाजिक–आर्थिक प्रस्थिति से होने के बाद भी गतिषीलता एक ऐसा तथ्य है जिसकी प्रकृति तथा सीमा की माप की जा सकती है। यह विभिन्न सामाजिक स्तरों से सम्बन्धित व्यक्तियों के बीच पाये जाने वाले औपचारिक सम्बन्धों के द्वारा सम्भव है। वर्तमान युग की यह विशेषता है कि आज परिवार और पड़ोस जैसे प्राथमिक समूहों की प्रकृति भी बहुत तेजी से औपचारिक रूप लेने लगी है । इस दशा में जब सभी व्यक्ति सम्पूर्ण सामाजिक जीवन पर ध्यान न देकर व्यक्तिगत उपलब्धियों और सफलताओं को अधिक महत्व देने लगते हैं तो उनके बीच औपचारिक सम्बन्धों का प्रभाव तेजी से बढ़ने लगता है । इस प्रक्रिया में एक सामाजिक वर्ग से दूसरे सामाजिक वर्ग में जाने की प्रवृत्ति भी तेजी से बढ़ने लगती है ।

प्राइस के अनुसार एक सामाजिक वर्ग से दूसरे सामाजिक वर्ग में जाने की प्रक्रिया में कुछ समय अवश्य लगता है। यदि आनुभविक आधार पर विभिन्न परिवारों का अध्ययन किया जाए तो स्पष्ट होता है कि विभिन्न वर्गों के बीच जाने या आने की प्रक्रिया इतनी स्पष्ट होती है कि इसके औसत समय की सरलता से गणना की जा सकती है। इसका तात्पर्य है कि एक वर्ग से दूसरे उच्च या निम्न वर्ग में जाने या वापस लौटने की पुनरावृत्ति के औसत मूल्य को गणितीय आधार पर मापा जा सकता है। इसी औसत मूल्य की सहायता से सामाजिक गतिषीलता की माप कर सकना भी सम्भव है। व्यावहारिक रूप से जो परिवार एक निम्न सामाजिक स्तर से ऊपर उठकर उच्च स्तर वाले वर्ग में प्रवेश करता है, उसमें उस परिवार की स्थिति स्थायी नहीं होती। एक ही परिवार के विभिन्न सदस्यों की योग्यता और कुशलता एक–दूसरे से भिन्न हो सकती है। इस दशा में उच्च से निम्न और निम्न से उच्च स्तरों में जाने तथा लौटने की प्रक्रिया एक चक्र का रूप लेने लगती है।

सामाजिक गतिषीलता से किसी परिवार या समूह की प्रस्थिति में होने वाला परिवर्तन जितनी तेजी के साथ होता है, समाज में लोगों के सम्बन्ध उतने ही अधिक औपचारिक बनने लगते हैं। इस आधार पर औपचारिक सम्बन्धों की प्रकृ ति के आधार पर सामाजिक गतिषीलता की प्रकृति का माप करना तथा उसका विश्लेषण करना सम्भव है ।

लर्नर का विकास का सिद्धान्त (Lerner's Development Theory)

लर्नर ने सामाजिक गतिषीलता के नाम से कोई पृथक सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं किया, लेकिन उन्होंने विकास की प्रक्रिया के रूप में लोगों की सामाजिक प्रस्थिति के बारे में होने वाले परिवर्तन को जिस रूप में स्पष्ट किया, उससे

सामाजिक गतिषीलता की प्रकृति एवं कारणों पर प्रकाश पड़ता है। लर्नर ने मध्य एशिया के अनेक देशों में रहने वाले लोगों का सर्वेक्षण करके इन लोगों के रहन–सहन की दशाओं, स्थान परिवर्तन के प्रति उनकी मनोवृत्तियों, जनसंचार के साधनों के प्रभाव तथा जनांकिकीय विशेषताओं में होने वाले परिवर्तन से सम्बन्धित परिणामों का अध्ययन करके अनेक महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किए।

अपने अध्ययन से **लर्नर** को जो तथ्य प्राप्त हुए उनके आधार पर उन्होंने विभिन्न देशों के लोगों को तीन तरह के समाजों में विभाजित किया – परम्परावादी समाज, संक्रमणकारी समाज तथा आधुनिक समाज इन समाजों की ऐतिहासिक दशाओं के आधार पर लर्नर ने यह स्पष्ट किया कि सामाजिक गतिषीलता का सम्बन्ध एक बड़ी सीमा तक ग्रामीण जनसंख्या का नगरों की ओर बढ़ने से है । नगरीकरण में वृद्धि होने से एक ओर जनसंख्या के घनत्व में वृद्धि हुई तो दूसरी ओर समाज पर उन संगठनों और संस्थाओं पर प्रभाव बढ़ने लगा जो वैयक्तिक स्वतन्त्रता के पक्ष में थीं। साक्षरता तथा जनसंचार के प्रभाव में वृद्धि होने के साथ जब विभिन्न व्यवसायों में वृद्धि हुई तथा एक नयी राजनीतिक व्यवस्था स्थापित हो जाने से लोगों की परम्परागत सामाजिक प्रस्थिति में परिवर्तन होने लगा तो इससे परम्परागत समाज आधुनिक समाजों के रूप में बदलने लगे। **लर्नर** ने यह भी स्पष्ट किया कि नयी प्रौद्योगिकी तथा जनसंचार के साधनों का प्रभाव बढ़ने से लोगों को व्यवहार करने के तरीकों तथा अपनी परम्परागत प्रस्थिति में परिवर्तन करने का भी प्रोत्साहन मिला। उनके अनुसार इस प्रक्रिया को प्रोत्साहन देने का संज्ञानात्मक तरीका परानुभूति अथवा मानसिक गतिषीलता है। इसका तात्पर्य है कि किसी समाज में जब विकास की प्रक्रिया आगे बढ़ती है तो लोगों में ऐसी इच्छाएँ और क्षमताएँ विकसित होने लगती हैं जिनके द्वारा लोग अपरिचित दशाओं से अनुकूलन करके अपनी उपलब्धियों को बढ़ाने का प्रयत्न करने लगते हैं। इसका तात्पर्य है कि सामाजिक गतिषीलता विकास की प्रक्रिया का एक स्पष्ट परिणाम है।

लर्नर द्वारा प्रस्तुत विकास की दशा को सामाजिक गतिषीलता का आधार मानने का **रोजर्स** (Rogers) ने भी समर्थन किया है। **रोजर्स** ने यह स्पष्ट किया कि किसी समाज में जैसे–जैसे नवाचारों (innovation) में वृद्धि होती है, सामाजिक गतिषीलता में भी वृद्धि होने लगती है ।

वास्तव में, सामाजिक गतिषीलता से सम्बन्धित यह सभी सिद्धान्त एक–दूसरे से कुछ भिन्न प्रतीत होते हैं, लेकिन यह सभी सिद्धान्त किसी–न–किसी रूप में इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं कि सामाजिक गतिषीलता का मुख्य कारण वे नए सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा आर्थिक मूल्य है जो लोगों

को अपनी सामाजिक प्रस्थिति में परिवर्तन लाने की प्रेरणा देते हैं।

13.9 सामाजिक गतिषीलता के प्रभाव अथवा परिणाम (Effects or Consequences of Social Mobility)

विभिन्न समाजशास्त्रियों ने आरोही तथा अवरोही गतिषीलता के अनेक सामाजिक परिणामों का भी उल्लेख किया है । **सोरोकिन** ने गतिषीलता के तीन मुख्य प्रभावों का उल्लेख किया– (i) सामाजिक गतिषीलता के फलस्वरूप सामाजिक संरचना में परिवर्तन, (ii) व्यक्ति के व्यवहारों तथा मनोवृत्तियों में परिवर्तन,(iii) प्रतिस्पर्धा से उत्पन्न तनावों एवं निराशा में वृद्धि । जब किसी समाज में गतिषीलता की दर बढ़ती है तो प्राथमिक सम्बन्धों पर आधारित सामाजिक संरचना में परिवर्तन होने लगते हैं। समाज में परिवार, पड़ोस तथा मित्रता से सम्बन्धित सम्बन्ध हितवादी अथवा औपचारिक सम्बन्धों के रूप में बदलने लगते हैं। इसके फलस्वरूप समाज के परम्परागत मूल्यों तथा उपभोग के प्रतिमानों में भी इस तरह परिवर्तन होने लगता है जिससे समाज का संतुलन प्रतिकूल रूप से प्रभावित होता है। ऐसी सभी दषाएँ एक ओर मानवीय व्यवहारों में परिवर्तन उत्पन्न करती हैं तो दूसरी ओर अधिकांश व्यक्तियों की मनोवृत्तियाँ इस तरह बदलने लगती हैं कि लक्ष्य को प्राप्त किया जाना चाहिए, इसके साधन चाहे कुछ ही हों। इससे समाज में विभिन्न लक्ष्यों तथा उन्हें प्राप्त करने के समाज द्वारा स्वीकृत साधनों के बीच एक असंतुलन उत्पन्न होने लगता है जिससे अनेक नई सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक समस्याएँ उत्पन्न होने लगती हैं। सामाजिक गतिषीलता की दशा में बहुत–से व्यक्ति उच्च प्रस्थिति प्राप्त करने के लिए जब एक–दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा करते हैं तो इससे जीवन में सफलता मिलना आवष्यक नहीं होता । यह दषा व्यक्ति में निराशा और तरह–तरह के तनाव पैदा करती है। इस दशा में अक्सर लोगों भूमिकाएँ उनकी प्रस्थिति के अनुरूप नहीं रह जातीं जिससे व्यक्ति के व्यक्तित्व के साथ सामाजिक जीवन में भी असंतुलन की दशा पैदा होने लगती है।

दुर्खीम ने अपने 'आत्महत्या' सम्बन्धी अध्ययन के द्वारा यह स्पष्ट किया कि जब किसी समाज में आरोही अथवा अवरोही सामाजिक गतिषीलता बढ़ती है तो इससे समाज में नियमहीनता (nomie) की दषा उत्पन्न होने लगती है। इसका तात्पर्य है कि अपने जीवन में यकायक बहुत अधिक सफलताएँ प्राप्त कर लेने अथवा अचानक अपनी सामाजिक–आर्थिक प्रस्थिति में बहुत गिरावट हो जाने की दशा में समाज विरोधी व्यवहारों को प्रोत्साहन मिलने लगता है। अक्सर इस दशा में व्यक्ति आत्महत्या भी कर लेता है। वर्तमान जीवन में तस्करी, जालसाजी, राजनीतिक भ्रष्टाचार तथा अनेक प्रकार के दूसरे अपराधों की बढ़ती

हुई समस्या मूलरूप से सामाजिक गतिषीलता का ही परिणाम है।

13.10 सारांष (Summary)

समाजशास्त्रियों ने सामाजिक गतिषीलता के प्रभाव को मानव जीवन में उत्पन्न होने वाली सीमान्तीकरण की समस्या (Problem of marginalization) के रूप में भी स्पष्ट किया है । सीमान्त मानव की अवधारणा सबसे पहले राबर्ट ई. पार्क ने प्रस्तुत की। उनके अनुसार ''जो – व्यक्ति दुविधा में उलझे होने के कारण अपने बारे में स्वयं कोई निर्णय लेने में असमर्थ होता है, उसे हम सीमान्त व्यक्ति कहते हैं। '' सीमान्त मानव वह है जिसे किसी–न–किसी तरह ऐसे लाभ को पाने से रोक दिया जाता है जिसका वह वास्तव में हकदार होता है। वह नगरों की चमक–दमक को देखने के बाद भी फुटपाथ पर सोने के लिए विवश होता है। भव्य इमारतों और वातानुकूलित मकानों को वह देख तो सकता है लेकिन उनमें प्रवेश नहीं कर सकता। सरकारी रिकॉर्डो और फाइलों में सीमान्त मानव को सब कुछ मिल जाता है लेकिन व्यवहार में उसे कुछ भी नहीं मिलता। उसकी दशा चौराहे पर खड़े एक ऐसे व्यक्ति की तरह होती है जिसे यह पता नहीं होता कि किस रास्ते पर आगे बढ़कर वह अपनी मंजिल को प्राप्त कर सकता है। स्पष्ट है कि सामाजिक गतिषीलता से उत्पन्न होने वाली नई परिस्थितियों से अनुकूलन न कर पाने के कारण बहुत–से लोगों के जीवन में वैयक्तिक विघटन की समस्या पैदा होने लगती है।

13.11 बोध प्रष्न (Check Your Progress)

1. सामाजिक गतिशीलता किसे कहते हैं? इसके प्रमुख प्रकारों का वर्णन कीजिए।
2. सामाजिक गतिशीलता का अर्थ तथा स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
3. सामाजिक गतिशीलता की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
4. अन्तःपीढ़ी एवं अन्तरा–पीढ़ी गतिशीलता से आप क्या समझते हैं ?

13.12 वस्तुनिष्ठ प्रष्न (Objective type question)

1. सामाजिक पद में किसी भी परिवर्तन को क्या कहा जाता है ?

   (a) नगरीकण (b) गतिषीलता

   (c) पश्चिमीकरण (d) लौकिकीकरण

2. किस विद्वान ने लम्बवत् एवं समानान्तर गतिषीलता में भेद किया है ?

(a) सोरोकिन (b) टर्नर

(c) बोर्सले (d) श्रीनिवास

3. संस्कृतिकरण किस प्रकार की गतिषीलता का उदाहरण है–

(a) सामूहिक (b) व्यक्तिगत

(c) अवरोही (d) इनमें से कोई नहीं

4. 'Social and cultural Dynamics' पुस्तक के लेखक कौन हैं ?

(a) फेयरचाइल्ड (b) सोरोकिन

(c) फैडरिको (d) मर्टन

5. किसने कहा है कि ऐसा कोई समाज नहीं जो पूरी तरह खुला हो या पूरी तरह से बन्द हो।

(a) सोरोकिन (b) टर्नर

(c) बोर्सले (d) श्रीनिवास

उत्तर– 1. (b) 2. (a) 3. (a) 4. (b) 5. (a)

13.13 संदर्भ ग्रन्थ सूची (Bibiliography)

1. Barber Bernord, (1968) "Social Mobility in Hindu India"
2. Damle Y.B. (1968) "Social Mobility in the Caste System in India" James Silverberg.
3. डाहरेनडार्फ आर. (1959) ''क्लास एण्ड क्लास कॉनफ्लिक्ट इन ए इन्ड्रस्ट्रियल सोसाइटी'' Routledge & Kegan Paul, London
4. हबीब इरफॉन (1963) "The Agrarian System in Mughal India" एशिया पब्लिशिंग हाउस बाम्बे।